

लेखक

सर्वमंगल जैन धर्म

स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

संयोजक

महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि स्मृति पुष्प—१

- प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान

  मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
  पीपलिया बाजार ब्यावर

- संयोजक

  स्व. युवाचार्य श्री के शिष्य
  महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

- संकलन-संपादन

  श्री चन्द सुराना 'सरस'

- अर्थ सौजन्य

  श्री एल. सुगनचन्दजी जैन एडवोकेट
  १०४, गोविदप्पा नायकन स्ट्रीट, मद्रास

- प्रथम मुद्रण

  २६ नवम्बर १९८८,
  युवाचार्य श्री का पांचवाँ स्मृति दिवस

- मुद्रण व्यवस्था

  संजय सुराना के निदेशन में
  कामधेनु प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
  A 7, अवागढ हाऊस
  अंजना सिनेमा के सामने,
  एम. जी. रोड, आगरा

- लागत

  मूल्य ५)- पाँच रुपया



श्रमण संघ के स्व. युवाचार्य

गुरुदेव श्री मधुकर मुनिजी

जन्म :
वि. स. १९७०

स्वर्गवास :
२६ नवम्बर, १९८३

अपनी बात

जन, जिन और जैन—ये शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। जन—यानी सामान्य मानव, एक आत्मा, वह अध्यात्म की ओर गतिशील होकर बढ़ता-बढ़ता उस चरम-परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है जिसे हम 'जिन' कहते हैं। यानी आत्म-विजेता, आत्म-विकास के उच्चतम शिखर पर आरूढ होने पर 'जन', 'जिन' बन जाता है। 'जन' की तलहटी से 'जिन' शिखर तक पहुँचने का जो मार्ग है, वह है—जैन-धर्म। जन, जिन चरण-चिन्हों पर चलकर जिन की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करता है वे चरण-चिन्ह 'जैन-धर्म' के नाम से विख्यात हैं।

जैन धर्म का लक्ष्य है—जीव मात्र को सुखी, मंगलमय और निर्भय जीवन प्राप्त हो। इसलिए जैन-धर्म का विशेषण है—'सर्व मंगल मांगल्यं' सब मंगलो मे श्रेष्ठ मंगल। सबका हित, आनन्द और मंगल करने वाला जैनधर्म आज अपने असली गौरवमय स्वरूप में ओझल हो रहा है। उसके त्याग, तपोमय संयम व सत्य प्रधान जीवन दर्शन को लोग विस्मृत कर रहे हैं। आज आवश्यकता है जैन कहलाने वाले अपने मंगलमय धर्म के इतिहास, तत्वदर्शन, संस्कृति एवं साहित्य से परिचित

हों और दूसरों को भी परिचय करायें। इसी दृष्टिकोण से मैने स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी महाराज के साहित्य में से चयन कर एक लघु पुस्तिका तैयार की है सर्व मंगल जैन धर्म।

युवाचार्य श्री स्थानकवासी जैन समाज के एक प्रज्ञा पुरुष थे। उनका जीवन अतीव निर्मल, सरलता और सौम्यता का प्रतीक था। आगम एवं अन्य साहित्य के वे मर्मज्ञ थे। उनकी प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सान्निध्य में आगमों का हिन्दी अनुवाद विवेचन के साथ प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो आज लगभग सम्पन्न हो रहा है। युवाचार्य श्री की श्रुत-सेवा का यह एक अमर कीर्ति स्तम्भ है। स्थानकवासी जैन समाज उनके व्यक्तित्व-कृतित्व से प्रायः सुपरिचित है।

श्रद्धेय श्री मधुकर मुनिजी का जन्म वि. सं. १९७० मार्गशीर्ष शुक्ला १४, तिवरी (राजस्थान) में हुआ।

पूज्य स्वामी श्री जोरावरमलजी महाराज के कर-कमलों द्वारा वि. सं. १९८० (१० वर्ष की लघुवय में) दीक्षा ग्रहण की।

पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज, स्वामीजी श्री वृजलालजी महाराज आपके ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। आप जैन आगम, टीका, भाष्य, न्याय आदि विषयों के अच्छे विद्वान थे। वाणी मधुर, हृदय पवित्र सरल, स्वभाव अत्यन्त मृदु, दयालु और विनम्र तथा सबका हित-मंगल चाहने वाले अजातशत्रु व्यक्तित्व के धनी थे।

वि. सं. २०३६ (ई० सन् १६८०) जुलाई में आचार्यश्री आनन्दऋषिजी महाराज ने आपको अपने उत्तराधिकारी के रूप में युवाचार्य घोषित किया। इस घोषणा से सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज प्रसन्न और आशावान था, किन्तु विधि का विचित्र विधान है कि २६ नवम्बर, १६८३ में नासिक शहर में आचार्यश्री के सान्निध्य में ही आपका आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। इस वज्रपात से सम्पूर्ण समाज स्तब्ध रह गया।

वर्तमान में युवाचार्य श्री के दो शिष्य हैं, श्री विनय मुनि 'भीम' एवं श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'। श्री महेन्द्रमुनि जी की बलवत्ती प्रेरणा थी कि युवाचार्य श्री के अप्रकाशित साहित्य में से चुनकर कुछ लघु पुस्तकें जो सर्व साधारण के लिए विशेष उपयोगी हों, उनका प्रकाशन होना चाहिए।

चूंकि मेरा स्व. युवाचार्यश्री के साथ अतीव निकट व आत्मीय सम्बन्ध रहा। उनका वात्सल्य और विश्वास प्राप्त हुआ, जिसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। युवाचार्यश्री जी अनेक बार गद्गद् हृदय से कहते थे कि "आप—(मैं—श्रीचन्द सुराना) तथा डा० छगनलालजी शास्त्री मेरे अपने शिष्य से भी अधिक प्रिय, बंधु से भी अधिक आत्मीय एवं निकटतम सहयोगी हैं। ये मेरी दो भुजाएँ हैं।" उनका यह स्नेह एवं विश्वासपूर्ण उद्‌गार आज भी स्मृतियों में झंकृत हो रहा है और मन उनके प्रति श्रद्धाविभोर हो उठता है।

श्री महेन्द्र मुनिजी की भावना को साकार करने में प्रकाशन हेतु सहयोगी बने हैं—समाज के जाने-माने उदारचेता श्री एल. सुगनचंदजी जैन एडवोकेट (मद्रास)। आप स्व. गुरुदेव श्री मरुधर केसरी जी महाराज के परम भक्त हैं और स्व. श्री मधुकर मुनिजी के प्रति भी अतीव श्रद्धा रखते हैं। आप प्रतिवर्ष श्री मरुधर केसरी जैन डायरी का प्रकाशन करवाकर साधु-संतों व प्रिय मित्रों को नववर्ष का स्मरणीय उपहार देते हैं तथा अन्य भी अनेक सुकृत कार्यों में धन का सदुपयोग करते हैं। आपके सहयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए मैं आशा करता हूँ कि लघु पुस्तकों के प्रकाशन की यह योजना सबके लिए उपयोगी और प्रेरक सिद्ध होगी।

इस वर्ष मद्रास शहर के ऐतिसाहिक चातुर्मास में जैनधर्म की अभिनव प्रभावना व राष्ट्रीय धर्म-जागरण की दिशा में प्रयत्न करने वाले प्रवर्तक श्री रूपचंद जी महाराज, उपप्रवर्तक श्री सुकन मुनिजी आदि की सत्-प्रेरणा से यह प्रकाशन गतिशील हुआ है। अतः हम आशा करते हैं, स्व. युवाचार्य श्री की स्मृति में इस प्रकार की जनोपयोगी छोटी पुस्तकों के प्रकाशन का सर्वत्र स्वागत होगा।

२६, नवम्बर। विनीत
स्व. युवाचार्य श्री की श्रीचन्द सुरांना 'सरस'
पंचम पुण्य तिथि

क्या?...कहाँ?...



तथा यह मानवों के अभ्युदय (लौकिक-सांसारिक उन्नति) और निःश्रेयस् (आध्यात्मिक उत्कर्ष) का आधार एवं मूल हेतु है। इसी अभिप्राय को निम्न शब्दों में प्रगट किया गया है—

धर्म कर्मनिवर्हणं संसार....दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

धर्म समस्त कर्मबंधनों तथा दुःखों से मुक्त करके मानव को उत्तम सुख (मुक्ति) में पहुँचा देता है।

धर्म के प्रति हजारों वर्ष की प्रचलित भारतीय धारणा व व्याख्या का सार एक ही है कि जो तत्व हमारे जीवन की श्रेष्ठता व उन्नति का आधार है, वह धर्म है।

धर्म जीव का पतन नहीं होने देता। वह पतन के सभी रास्तों को रोकने में समर्थ है। इसके साथ ही हमारी जीवन दृष्टि एवं जीवन-शैली को उन्नत और संतुलित बनाता है।

यही कारण है कि धर्म मानव को उतना ही प्रिय है जितना भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और बालक के लिए मां।

अन्न-जल से जिस प्रकार मानव के शरीर को तृप्ति होती है, उसी प्रकार धर्म से उसकी अन्तर् आत्मा तृप्त होती है और सुख-शांति का एक ऐसा अनुभव करती है जिसकी युग-युग से उसे तलाश थी।

शांति की अनुभूति का प्रमुख कारण 'समता' है। क्रोध, मान, माया, लोभ, आशा, तृष्णा, भोग-लालसा आदि जितनी भी ऐसी प्रवृत्तियां हैं, वे सब अशांति उत्पन्न

करती हैं, उनसे चेतना विक्षुब्ध हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे शांत झील में पत्थर फेंकने से जल विक्षुब्ध हो जाता है।

साथ ही ये काम, क्रोध आदि क्षणिक प्रवृत्तियां हैं। कुछ समय तक चेतना के अनुभव-पटल में आकर चित्त को उत्तेजित और उद्वेलित करती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं; किन्तु चित्त पर उद्वेग और पश्चात्ताप के संस्कार छोड जाती हैं।

जैसे जल का स्वभाव शीतलता है, उसी प्रकार चेतना आत्मा का स्वभाव भी शांति और समता है, वह सच्चिदानन्दमय है। इसीलिए कहा गया है—

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए।

—आर्य पुरुष ने समभाव में धर्म कहा है।

यह समभाव या समत्व आत्मा, चेतना का स्वभाव है और स्वभाव में रहना ही धर्म है।

जैनधर्म

संसार में अनेक धर्म प्रचलित हैं—ईसाई धर्म, मुस्लिम धर्म, कन्फ्यूसियस का धर्म, पारसी धर्म आदि। भारत में भी वैदिक धर्म, सनातन धर्म, बौद्ध धर्म, शैव धर्म, वैष्णव धर्म आदि धर्म की अनेकानेक सम्प्रदायें हैं।

ये सभी धर्म तथा उनकी मान्यताएँ, श्रद्धा व्यक्ति विशेष, देशविशेष अथवा देव या पैगम्बर आदि पर आधारित हैं। उदाहरणतः ईसाई धर्म के आदिकर्ता ईसामसीह

थे और मुस्लिम धर्म के प्रवर्तक हजरत मोहम्मद तथा बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध थे।

संसार के प्रायः सभी धर्म अपने आदि प्रवर्तक या आदि पुरुष के नाम पर टिके हुए हैं। किंतु जैन धर्म किसी व्यक्ति विशेष या आदि प्रवर्तक पर आधारित नहीं है। यह विजेताओं का धर्म है। 'जिन' कहते हैं— विजेता को। जो राग-द्वेष, कषाय आदि सभी दुर्वृत्तियों पर एवं विकारों पर विजय प्राप्त कर ले, वह जिन कहलाता है और उसके द्वारा उपदिष्ट सर्वदुःखमुक्ति का मार्ग है—जैनधर्म।

जैनधर्म—यानी विजय का मार्ग।

जैनधर्म के प्राचीन काल में दो नाम और प्रचलित थे—(१) आर्हत् धर्म और (२) निर्ग्रन्थ धर्म।

आर्हत, उन्हें कहते हैं, जिन्होंने अपने समस्त विकारों —अहंता, ममता आदि पर विजय प्राप्त कर ली है तथा चेतना के संपूर्ण शुद्ध स्वभाव में रमण करते हैं तथा अन्तरंग शत्रुओं—क्रोध आदि कषायों को विजित करके समस्त संसार के पूज्य बन गये हैं। अर्हता—यानी आत्मा की संपूर्ण शक्तियों का स्वामित्व एवं जगत के लिए पूज्यता जिन्होंने प्राप्त कर ली वे हैं अर्हत्। अर्हत् द्वारा उपदिष्ट कषाय-मुक्ति का मार्ग ही आर्हत् धर्म कहलाया।

निर्ग्रन्थ वे हैं जिनकी राग-द्वेष-मोह आदि की सभी

ग्रन्थियां (गाठें) खुल चुकी हैं, निर्मूल हो चुकी हैं, समस्त आवरण हट चुके हैं, परिणामस्वरूप शुद्ध आत्म-भाव प्रगट हो चुका है, आत्मिक गुण अनावृत होकर पूर्णतः झलक उठे हैं। उनके द्वारा उपदेशित आत्म गुणों के प्रगटीकरण का पथ 'निर्ग्रन्थ धर्म' कहलाता है।

जिन धर्म, जैन धर्म, आर्हत धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म—ये सब एक ही वस्तुतत्व तथा आचार मार्ग के विभिन्न नाम हैं। शब्दभेद ही दिखाई पड़ता है, किंतु वास्तविक रूप में तो एक ही है।

जैन इतिहास

जैनधर्म के इतिहास के विषय में अधिकांशतः भ्रांत धारणाएँ फैली हुई हैं। आज से ७०-८० वर्ष पूर्व तक इसे मात्र एक सुधारात्मक आंदोलन माना जाता था, जिसका उद्देश्य वैदिक धर्म में पनपी हुई विकृतियों को दूर करना मात्र था। इस सुधारात्मक आदोलन के नेता भगवान महावीर थे।

समय गुजरा। आधुनिक विद्वानों ने खोज की। डा० शारपेन्टियर[1] ने भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्वीकार किया, तथा डा० गेरीनाट[2] ने इस

---

१ शारपेन्टियर—उत्तराध्ययन सूत्र का प्राक्कथन।

२ डा. गेरिनाट—रिप्रलोग्राफिरा जैनास की प्रस्तावना

धारणा को पुष्ट किया। डा० राधाकृष्णन[1] ने स्वीकार किया कि भ० ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे और ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि—इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख प्राप्त होता है।

अब तो इतिहास की गहराई में उतरकर अनेक विद्वानों ने यह तथ्य उजागर कर दिया है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म है और भारतीय महाद्वीप में लाखों वर्ष पूव भी इसका खूब प्रचार था।

भोग युग

किन्तु जैन शास्त्रों एवं विद्वानों के अनुसार जैन परम्परागत इतिहास का प्रारम्भ इससे भी वहुत प्राचीन है। इसका उद्‌गम कल्पवृक्ष युग से माना जाता है। उस समय वृक्षों की वहुतायत थी। प्रकृति अपना सौरभ उन्मुक्त होकर लुटा रही थी, उसकी सुषमा चतुर्दिक् व्याप्त थी।

उस युग का मानव फलाहारी था। वृक्षों के फल खाकर क्षुधा शांत कर लेता, सदानीरा सरिताओं का निर्मल-स्वच्छ जल पीकर तृषा वुझा लेता और वृक्षों की छाया में विश्राम कर लेता। उसकी समस्त आवश्यकताएँ वृक्षों द्वारा सरलता से पूरी हो जातीं।

---

1 Dr. Radhakrishnan—Indian Philosophy, Vol.I p. 287.

इस कारण उसे मानसिक उद्वेग, कलह आदि भी बहुत कम थे।

प्रकृति पर आश्रित मानव पूर्ण रूप से निश्चिन्त था। न किसी प्रकार का संघर्ष और ग्रहण, संग्रह तथा उपार्जन की चिन्ता। प्रकृति के समान उसका स्वभाव भी शान्त था।

इस युग को 'भोग युग' अथवा युगलिया युग कहा गया है। युगलिया इसलिए कि माता-पिता के सिर्फ दो ही सन्तानें होती थी—एक पुत्र और एक पुत्री, वह भी युगल रूप में।[1]

यह युग सुदीर्घ काल तक चलता रहा। धीरे-धीरे प्रकृति में परिवर्तन आना शुरु हुआ। पृथ्वी की नमी कम होने लगी। परिणामस्वरूप कल्पवृक्षों की संख्या तथा फल देने की शक्ति में कमी आने लगी। इस कमी के कारण मानव के शान्त स्वभाव में अशान्ति का प्रवेश हुआ। उसे संग्रह की चिन्ता हुई। अधिकार भावना अस्तित्व में आई। वह संग्रह करने लगा। इसका परिणाम संघर्ष में आया। संघर्षों को निपटाने और अपराधी को उचित दण्ड देने के लिए कुछ बुद्धिमान व्यक्ति सामने आये, जिन्हें कुलकर कहा गया।

कुलकर सात हुए। (१) विमलवाहन (२) चक्षुष्मान् (३) यशस्वी (४) अभिचन्द्र (५) प्रसेनजित (६) मरुदेव

१ प्राचीन युग मे संतति—नियमन की यह कितनी स्वाभाविक और स्वस्थ, तथा सर्वजन सम्मत परम्परा थी, जो आदर्श मानी जा सकती है।

और (७) नाभि। ये कुलों के स्वामी, व्यवस्थापक और दण्ड निर्धारक थे। इन्होंने हाकार (हा! तुमने यह किया ?) माकार (ऐसा कभी मत करना) और धिक्कार (धिक्कार है तुम्हें! ऐसा गलत कार्य किया) इन तीन नीतियों का प्रवर्तन किया। उस युग के सरल-सीधे मानव के लिए 'हा, मा, धिक्' ये तीन शब्द ही कठोर दण्ड के समान थे।

नाभि कुलकर के पुत्र ऋषभदेव विशिष्ट मेधावी थे। इनके युवा होने तक कल्पवृक्ष क्षीणप्राय हो गये थे। प्रकृति का आश्रय मानवों से छूट चुका था। उनके सामने पेट भरने की समस्या आ गई थी। फलतः संघर्ष भी बढ़ गये थे।

प्रखर मेधावी ऋषभदेव ने परिस्थितियों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन किया और समझ गये कि कर्म युग का प्रारम्भ हो चुका है। अब मानव को परिश्रम करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ेगा।

कर्मयुगः मानवीय सभ्यता और संस्कृति का प्रारम्भ

ऋषभदेव ने उस युग के मानवों को परिश्रम से जीना सिखाया। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था स्थापित की। विभिन्न प्रकार की कलाएं सिखाईं। कृषि, वाणिज्य, लेखन कला आदि का प्रारम्भ किया।

सामाजिक व्यवस्था—कला-कौशल-शिल्प आदि के

ज्ञान द्वारा उन्होंने सामाजिक व्यवस्था स्थापित की। उन्होंने मानसिक, हार्दिक संतुष्टि प्रदान करने वाली कलाओं—यथा, नृत्य, गीत आदि का भी प्रचलन किया और जीविकोपार्जन की कलाओं—यथा कृषि आदि की कला भी सिखाई।

भारत जो कृषिप्रधान देश कहलाता है, उसके आदि पुरस्कर्ता ऋषभदेव ही थे। आधुनिक युग के पुरातत्ववेत्ताओं ने भी स्वीकार किया है कि भारतवर्ष में ही सर्वप्रथम कृषि का गई है। उसके अवशेष उन्हे सिन्धुघाटी सभ्यता में प्राप्त हुए हैं।

ऋषभदेव ने पुरुषों के लिए ७२ तथा स्त्रियों के लिए ६४ कलाओं का प्रशिक्षण दिया। अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या और सुन्दरी को अंकविद्या का अभ्यास कराया तथा पुत्रों को युद्धविद्या, शस्त्रविद्या, गजविद्या व अश्वविद्या आदि एवं राजनीति का ज्ञान प्रदान किया।

राजनीतिक व्यवस्था--ऋषभदेव ने राजा के पद की स्थापना की और उसे सुव्यवस्था तथा मानवों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व प्रदान किया। इस प्रकार उस युग में प्रजा द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत राजा का मनोनयन हुआ। अपनी सहज प्रतिभा और सूझबूझ के कारण ऋषभदेव शासनतन्त्र को सुचारु रूप से चलाने लगे।

उन्होंने साहसी लोगों को सुरक्षा का भार दिया, वे

क्षत्रिय कहलाए, सेवाभावी लोगों को शूद्र कहा जाने लगा और वाणिज्य करने वाले वणिक् अथवा वैश्य कहे जाने लगे।

इस प्रकार के सुधारों से मानव का जीवन सुखी हो गया और सभ्यता तथा संस्कृति की नींव पड़ी जो उत्तरोत्तर विकसित होती गई तथा इसकी परिणति आज के वैज्ञानिक युग में परिलक्षित हो रही है।

सामाजिक एवं राजनीतिक सुव्यवस्था से जन-जीवन कला और आध्यात्मिक विकास की ओर मुड़ता है। अतः सामाजिक जीवन सुखी होने के वाद ऋषभदेव ने धार्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान दिया। इस पथ को प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने अपने सबसे वड़े पुत्र भरत को अयोध्या का राज्य तथा वाहुवलि आदि शेष पुत्रों को अन्य राज्य सौंपकर स्वयं आत्मकल्याण के पथ पर निकल पड़े।

भरत ने अपने साहस से सम्पूर्ण पृथ्वी को विजित किया, एक-सी अखण्ड, सार्वभौम, शासन-व्यवस्था स्थापित की और चक्रवर्ती पद से विभूषित हुए। उनके वाद ११ चक्रवर्ती और हुए।

ऋषभदेव आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में अग्रगामी हुए और कठोर तपश्चरण, अन्तर्मुखी ध्यान एवं एकनिष्ठयोग के माध्यम से उन्होंने सम्पूर्ण आत्मशक्तियों को जागृत किया। उन्होंने चतुर्विध धर्मसंघ (साधु-साध्वी,

श्रावक-श्राविका) की स्थापना की और तीर्थंकर पदवी से अलंकृत होकर धर्ममार्ग का प्रवर्तन किया।

भारतीय इतिहास के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के रुद्र सूक्त (२/३३/१५) में ऋषभदेव के इस रूप की स्तुति की गई है। श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में भी उन्हें धर्म का प्रथम पुरस्कर्ता कहकर श्रद्धा व्यक्त की गई है।

प्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार ने उन्हें प्रथम राजा माना है और कहा है कि उनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। मोअन-जो-दड़ो की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों का विश्लेषण करते हुए प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता राधाकुमुद मुकर्जी ने स्वीकार किया है कि ये मुद्राएँ जैनयोगियों की ध्यान-मुद्रा से बहुत मिलती-जुलती हैं। राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर के भी ऐसे ही विचार हैं।

इस प्रकार पुरातत्व और ऐतिहासिक विद्वानों ने भी ऋषभदेव का अस्तित्व और आदि धर्म प्रवर्तक का स्वरूप स्वीकार किया है।

जैन इतिहास के अनुसार ऋषभदेव प्रथम राजा, प्रथम जिन और प्रथम तीर्थंकर थे।

तीर्थंकर परम्परा

तीर्थंकर, जैनधर्म का एक विशिष्ट शब्द है। शब्द शास्त्र की दृष्टि से तीर्थ, नदी का वह स्थल (घाट) होता

(१७) कुन्थुनाथ (१८) अरनाथ
(१९) मल्लिनाथ (२०) मुनिसुव्रतनाथ
(२१) नमिनाथ (२२) अरिष्टनेमि (नेमिनाथ)
(२३) पार्श्वनाथ (२४) महावीर स्वामी

जैन दृष्टि से तीर्थंकर धर्म-मार्ग के प्रचारक होते हैं। इन्हें प्रवर्तक सिर्फ इसलिए कहा जाता है कि वे अपने युग में लुप्त सुप्त धर्म-संस्कारों का पुनर्जागरण करते हैं, किन्तु वे धर्म के आदिकर्ता नहीं होते। धर्म की सत्ता तो अनादि है।

इन २४ तीर्थंकरों में से भगवान महावीर स्वामी अन्तिम (चरम) तीर्थंकर हैं।

भगवान महावीर

भगवान महावीर का जन्म मार्च ई०पू० ५९९ अर्थात वि० पू० ५४२ चैत्र शुक्ला १३ को हुआ।

जन्म एवं बाल्य काल—तत्कालीन भारत के मानचित्र में मगध और विदेह दो वैभवशाली भू-भाग थे। मगध में एकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था और विदेह में प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली फल-फूल रही थी।

विदेह की राजधानी वैशाली थी। उसके गणाध्यक्ष राजा चेटक थे। उनकी वहन त्रिशला का विवाह ज्ञातवंशीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ। राजा

सिद्धार्थ वैशाली के समीप ही क्षत्रियकुण्ड के शासक थे। त्रिशला स्वभाव से बहुत कोमल और प्रियभाषिणी थी, सबका प्रिय करती थी। इसलिए उसका नाम त्रिशला प्रियकारिणी पड़ गया था। इन्ही महारानी त्रिशला की रत्न कुक्षि से चैत्र शुक्ला १३ (ई० पू० ५९९ मार्च) के दिन भगवान महावीर का जन्म हुआ।

कुमारावस्था में ही महावीर अत्यन्त साहसी और निर्भय थे। उनका शारीरिक बल भी अपूर्व था और बुद्धि भी अतितीक्ष्ण थी। स्वभाव से गम्भीर थे। संसार की विचित्रताओं पर चिन्तन-मनन करते रहते थे। साथ ही माता-पिता के भक्त थे। उनका स्वभाव स्वतन्त्र, मुक्त गम्भीर चिन्तनप्रिय था।

आध्यात्मिक साधना—माता-पिता को किसी प्रकार का मानसिक कष्ट न हो, इसीलिए उनके स्वर्गवास के पश्चात् ३० वर्ष की आयु में (मृगसिर वदी १०, ई० पू० ५६९ दिसम्बर) उन्होंने आध्यात्मिक साधना की ओर कदम बढ़ाये। वे निर्ग्रन्थ बने।

महावीर का साधना काल १२ वर्ष ६ मास का रहा; किन्तु था बहुत संकट पूर्ण। प्रारम्भ से अन्त तक अनेका-नेक भीषण उपसर्ग ही होते रहे। देवताओं का [illegible]
[illegible] इन्द्र [illegible] था। इसलिए प्रथम उप[illegible]
समय [illegible] निवारणार्थ प्रभु महावीर
सेवा [illegible] ों से उनकी रक्षा [illegible]
प्रार्थना

किन्तु महावीर ने दृढ़ स्वावलम्बनभरा उत्तर दिया —हे इन्द्र ! ऐसा न कभी हुआ है और न होगा कि आत्मिक साधना किसी अन्य के सहारे की जाय। साधक अपने ही बल-वीर्य-साहस से साधना करके परम पद को प्राप्त करता है—

स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ।

पच्चीस सौ वर्ष बाद आज भी यह वाक्य प्रत्येक साधक के लिए प्रेरणा सूत्र है।

१२ वर्ष ६ मास की कठोर तपश्चर्या के उपरान्त आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। आप अरिहन्त बन गये और धर्म तीर्थ की स्थापना करके तीर्थंकर पदवी से विभूषित हुए।

आपकी कैवल्य प्राप्ति की तिथि वैशाख शुक्ला १० (ई० पू० ५५७) है।

भगवान महावीर ने ३० वर्ष तक भारतभूमि पर धर्म प्रचार किया और तदुपरान्त कार्तिक कृष्णा ३० (ई० पू० ५२७, १४ नवम्बर, मंगलवार) को इस भौतिक शरीर को त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान महावीर के प्रमुख उपदेश थे—

अहिंसा—प्रत्येक प्राणी को सुख एवं जीवन प्रिय है, इसलिए किसी प्राणी को कष्ट न दो, और न ही उसकी घात करो।

हिंसाप्रधान क्रियाकाण्ड, धार्मिक भेदभाव, छुआ-

छूत, धर्म साधना में स्त्री-पुरुष का भेद मानकर स्त्री का महत्व कम करना, यज्ञों में पशु बलि आदि देना, किसी वर्ग विशेष को जन्म के आधार पर ऊँच-नीच मानना— भगवान महावीर ने इन सब अन्ध धारणाओं का खण्डन किया और मानव जाति में सर्वत्र धर्म-समानता, समता और आत्म-संयम का महत्व प्रतिपादन किया।

भगवान महावीर के धर्म अनुयायी प्रत्येक वर्ग व वर्ण में थे—मगध, अवन्ती से लेकर सिन्धु देश तक के क्षत्रिय राजा उनके धर्मानुयायी थे, अनेक वैश्य व्यापारी, कृषिकार, ब्राह्मण पण्डित, यहां तक कि शूद्र जाति के चाण्डाल आदि भी महावीर के धर्म संघ व धर्म समवसरण में सम्मिलित होते थे। धार्मिक समानता का एक अद्‌भुत साम्राज्य था वह।

आपके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति गौतम (गौतम गणधर) थे और प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा (पांचवें गणधर) थे। आर्य सुधर्मा के शिष्य जम्बू स्वामी हुए।

जम्बू स्वामी का जैन परम्परा में बहुत महत्व है; क्योंकि इन्हीं की जिज्ञासाओं पर आर्य सुधर्मा ने द्वादशांगी श्रुत का प्रवचन दिया जो आज भगवान महावीर के उपदेश रूप में सुरक्षित है और इन्हीं जम्बू स्वामी के शिष्यों ने उसे स्मृति में रखा।

जम्बू स्वामी के निर्वाण के पश्चात श्रुतकेवलियों की परम्परा चली जिनमें अन्तिम और पांचवें श्रुतकेवली

भद्रबाहुस्वामी (वीर नि० सं० १४०-१७०) थे। इनके समय तक जैन संघ संगठित रहा। और उनके बाद जैन संघ में भेद की सीमाएं गहरी होती गयीं, फलतः वीर नि० सं० ६०९ में जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो परम्पराओं में विभाजित हो गया। श्वेताम्बर संघ ने श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य आर्य स्थूलभद्र को प्रधान माना और दिगम्बर सम्प्रदाय ने आचार्य कुन्दकुन्द को।

इसके उपरान्त भी दोनों परम्पराओं में अनेक प्रभावशाली आचार्य हुए, जिनमें सिद्धसेन दिवाकर, हरिभद्र, हेमचन्द्र, पूज्यपाद, अकलंक, समन्तभद्र, आदि उल्लेखनीय हैं।

देश की तत्कालीन उथल-पुथल और राजनीतिक विषमता भरी परिस्थितियों, विदेशी शक्तियों शक, यवन, हूण आदि के लगातार आक्रमणों से जर्जर अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक विपरीत स्थिति के कारण आगमों (जिनवाणी) का पारायण निरन्तर न हो सका। यद्यपि कई बार श्रमणों के सम्मेलन श्रुत रक्षा हेतु हुए, किन्तु कोई परिणाम न निकला। बारहवां अंग दृष्टिवाद जो अत्यन्त ही दुर्लभ विद्या एवं अपूर्व ज्ञान का संग्रह था, तो लुप्त हो ही गया। शेष ११ अंगों ज्ञान का जितना भी स्मृति में रहा, उसे वीर नि० सं० ९८० में देवर्धिगणी क्षमाश्रमण ने पहली बार लिपिबद्ध कर दिया।

यह उनका बहुत बड़ा उपकार है कि वीर वाणी (अल्पतम अंश में ही सही) हमें आज उपलब्ध है।

वीर निर्वाण स० २००० में श्वेताम्बर संघ में एक और विभाजन हुआ। लोंकाशाह नाम के प्रबुद्ध आगम ज्ञानी सद्‌गृहस्थ ने जैन श्वेताम्बर संघ में प्रचलित मूर्ति-पूजा को आगम विरुद्ध बताया और धर्म के नाम पर फैले आडम्बर आदि का कड़ा विरोध किया। इन विचारों से प्रभावित और प्रेरित होकर कुछ आगमज्ञाता वैरागी साधकों ने दीक्षा ली और लोंकाशाह की सुधारवादी विचारधारा को आगे बढ़ाया।

इस प्रकार श्वेताम्बर संघ दो भागों में विभाजित हो गया—(१) मूर्तिपूजक अथवा मन्दिरमार्गी सम्प्रदाय और (२) स्थानकवासी सम्प्रदाय। स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रथम आदिपुरुष लवजी ऋषि हुए।

श्री लवजी ऋषि

लवजी ऋषि स्थानकवासी जैन परम्परा के एक अति तेजस्वी संतरत्न थे। आपके पिताजी का देहान्त आपको लघुवय में ही हो गया था, अतः आपकी माता श्री फूलाबाई अपने पिताश्री वीरजी वोरा के पास ही रहती थी। आपका पालन-पोषण नाना के घर में हुआ। वीरजी वोरा की लाखों की सम्पत्ति के एक मात्र आप ही उत्तराधिकारी थे।

लाखों की सम्पत्ति के मोह को ठुकराकर आपने वि. सं. १६९२ में श्री बजरंग जी यति से दीक्षा ग्रहण की;

किन्तु श्रमणाचार के विषय में आपका यतिजी से मत-भेद हो गया। आप थोभनजी ऋषि और भाणजी ऋषि को साथ लेकर श्री वजरंगजी यति से अलग होकर शुद्ध संयम आराधना के पथ पर बढ़ गये।

आपका आगमज्ञान गम्भीर था और दृढ़तापूर्वक शुद्ध श्रमणाचार का पालन करते थे। आपके विशुद्ध आचार की प्रशंसा सर्वत्र होने लगी, परिणामस्वरूप यति वर्ग ईर्ष्या से जल उठा। उन्होंने षड्यन्त्र करके आपके तीन शिष्यों को मार डाला और उनके शवों को जैन मन्दिर में गाढ़ दिया। राज-शासन ने दण्डस्वरूप जैन मन्दिर तोड़ने की आज्ञा दे दी; किंतु आपने यह कहकर कि 'यह तो धर्मस्थान है, श्रद्धालुगण यहाँ धर्मसाधना करते हैं, अतः मंदिर न तोड़ा जाय' वह आज्ञा निरस्त करवा दी। यह आपकी क्षमाशीलता का अद्भुत उदाहरण है।

इसी प्रकार एक वार आपके शिष्य भानु ऋषि को विरोधियों ने कत्ल करवा दिया। इस हृदय विदारक घटना को भी आप समता से सहन कर गये।

वुरहानपुर में किसी विद्वेषी ने ईर्ष्यावश आपको विषमिश्रित मोदक प्रदान किये। वेले के पारणे में सहज भाव से उन मोदकों का उपयोग किया। तुरन्त आपको तीव्र वेदना की अनुभूति हुई। आप समझ गये कि मोदक विषमिश्रित हैं। अपने शिष्य सोमजी से कहा—इन मोदकों का कोई भी उपयोग न करना, निर्जीव स्थान में

परठ देना। मेरे जीवन का अब अन्तिम समय आ गया है। मेरी आयु पूर्ण होते ही तुम लोग गुजरात में जाकर धर्म-प्रचार करना। इतना कहकर आचार्य श्री लवजी ऋषिजी ने जीव मात्र से क्षमा याचना की और समाधि-पूर्वक शरीर त्याग दिया।

आपके शिष्यों द्वारा गुजरात में खम्भात सम्प्रदाय और मध्य भारत तथा महाराष्ट्र में ऋषि सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। वर्तमान आचार्य सम्राट आनन्द ऋषिजी म. सा. आपकी ही परम्परा के एक ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं।

आचार्य श्री धर्मसिंहजी महाराज

आचार्य श्री धर्मसिंह म० ने लवजी ऋषि की प्रेरणा से क्रियोद्धार किया। दोनों महापुरुषों में अनेक आगमिक चर्चाएँ हुईं और अनेक बातों मे दोनों एकमत हुए और कुछ बातों में मतभेद भी रहा।

आपका जन्म सौराष्ट्र के जामनगर में हुआ। आपके पिता जिनदासजी और माता शिवादेवी थी। आप दसाश्रीमाली थे। आपने लोंकागच्छीय देवजी यति से दीक्षा ग्रहण की; किन्तु आचार शिथिलता के कारण मतभेद हो गया। आपने विशुद्ध श्रमणाचार के पालन की बात कही तो यतिजी ने उत्तर दिया—

यह पंचम काल है। इस काल में शुद्ध श्रमणाचार का पालन संभव नहीं। फिर भी यदि तुम करना ही

चाहते हो तो मैं आज्ञा दे सकता हूँ, किन्तु पहले तुम अपनी दृढ़ता की परीक्षा दो।

और फिर वह परीक्षा बताई—

दिल्ली दरवाजे के बाहर (अहमदाबाद) जो दरगाह है, उसमें रात-भर रहकर सकुशल लौट आओ तो मैं समझूँगा कि तुम विघ्न-बाधाओं में भी अविचलित रह कर शुद्ध श्रमणाचार की साधना कर सकते हो।

दरगाह में एक पीर (मुस्लिम धर्मगुरु) का प्रेत रहता था, वह रात्रि के समय किसी को भी टिकने नहीं देता था, भयंकर उपद्रव करता था। आपके साथ भी उसने भयंकर उपसर्ग, उपद्रव किए; किन्तु आपकी तपोसाधना से अभिभूत हो गया और सेवा करने लगा, साथ ही यह वचन भी दिया कि आज से मैं किसी को भी नहीं सताऊँगा।

आपने अहमदाबाद के दरियापुर दरवाजे से उपदेश देना प्रारंभ किया इसीलिए आपका सम्प्रदाय दरियापुरी सम्प्रदाय कहलाया। आपके सम्प्रदाय की कोई भी शाखा प्रशाखा नहीं हुई।

आपने २७ आगमों पर सुन्दर टब्बे लिखे हैं, पर सभी अप्रकाशित हैं।

आपका विचरण क्षेत्र सौराष्ट्र रहा।

सं० १७२८ आसोज कृष्णा चतुर्थी को ४३ वर्ष की आयु में आप स्वर्गवासी हो गये।

आचार्य श्री धर्मदासजी महाराज

आचार्य श्री धर्मदासजी म० धर्म-सुधारक और क्रियोद्धारक तो थे ही, साथ ही ये संघ के कुशल संस्थापक और संघटनकार भी थे।

आपका जन्म अहमदाबाद के निकट सरखेज ग्राम में सं० १७०१ में चैत्र शुक्ला ११ को हुआ। आपके पिता जीवनदास कालीदास भावसार थे और माता का नाम हीराबाई था। आपका प्रारम्भिक अध्ययन लोंकागच्छीय केशवजी यति के सान्निध्य में हुआ। आपने सं० १७१६ में जीवराजजी म० से अपने ३० साथियों के साथ भागवती दीक्षा ग्रहण की। लेकिन २१ दिन बाद ही गुरु-वियोग हो गया और धर्म संघ का पूरा भार आपके कन्धों पर आ पड़ा।

आप उच्चकोटि के साधक थे। आपके दृष्टिक्षेप मात्र से ग्वालियर के राजा का सर्पविष उतर गया, सर्प दंश से मूर्च्छित राजा स्वस्थ हो गया।

आपका शिष्य परिवार काफी विशाल था। उसको आपने २२ भागों में विभाजित कर दिया। ये २२ सघाड़े ही बाईस टोला सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपके कुल ९९ शिष्य थे।

समाधि-संथारापूर्वक आपका स्वर्गवास धारानगरी में सं० १७७२ में हुआ।

आचार्य श्री भूधरजी म०

आचार्य श्री भूधरजी म० अपने संयम-नियम-साधना में भूधर (पर्वत) के समान ही अचल-अडोल थे।

आपका जन्म नागौर में वि० सं० १७१२ आश्विन शुक्ला १० (विजयादशमी) के दिन हुआ। आपके पिता का नाम माणकचन्द जी मुणोत और माता का नाम रूपांदे था।

आप धर्मवीर के साथ कर्मवीर भी थे। दीक्षा ग्रहण करने से पहले आपने डाकुओं पर विजय पाई और उसमें हुए रक्तपात से आपका हृदय वैराग्य से भर गया। सद्गुरु की खोज में आप मालवा पहुँचे और वहां पादरूल गाँव में आपकी भेंट धन्नाजी महाराज से हुई। सं० १७५१ फाल्गुन शुक्ला ५ के शुभ दिन आपने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और ज्ञान-ध्यान की साधना करने लगे।

गृहस्थ जीवन में आप युद्धवीर और कर्मवीर थे। दीक्षा लेकर महान धर्मवीर हुए।

आपने सोजत की भयंकर-भूतहा गैरवालों की हवेली को भूतरहित कर दिया, उस भूत को शांत कर दिया।

श्री रघुनाथजी म०, कुसलोजी महाराज, जयमल्लजी म० आदि आपके नवरत्नतुल्य नौ शिष्य हुए।

आपका स्वर्गवास वि० सं० १८०३ में मेड़ता में हुआ।

आचार्य श्री रघुनाथजी म०

आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के तपोधनी महान वैरागी एवं प्रभावशाली संत हुए ।

आपका जन्म सोजत नगर में माघ शुक्ला ५ (बसंत पंचमी)सं. १७६६ में हुआ । आपके पिता शाह नथमलजी और माता सोमादेवी थी। एक घनिष्ठ मित्र की मृत्यु के कारण इनका हृदय वैराग्य से भर गया और इन्होंने आचार्य भूधरजी म. से सं. १७८७ में दीक्षा ग्रहण करली।

आपकी प्रवचन शैली आकर्षक थी। ज्ञान-ध्यान-साधना उच्चकोटि की थी। अपने हाथों से ५२५ भाई बहनों को साधु धर्म में दीक्षित किया। आपका जीवन तप-त्याग से ओत-प्रोत था। तेरापंथ के संस्थापक श्री भीखणजी (भिक्षु स्वामी) आपके ही शिष्य थे।

आपका संपूर्ण जीवन गौरवान्वित रहा। माघ शुक्ला ११, सं. १८४६ के दिन १६ दिन के संथारे के बाद आपने महाप्रयाण किया।

आचार्य श्री जयमलजी आपके गुरुभ्राता थे।

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में ... दाय में से तेरापथ नाम से एक नई शाखा इसके ... चार्य श्री भिक्षु स्वामी थे

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज

आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज वज्र संकल्प के धनी और निष्ठावान साधक थे। आपकी स्मरणशक्ति प्रखर थी। आपने निरंतर १६ वर्ष तक एकान्तर तप की साधना की, यह आपके अपराजेय आत्मबल का प्रमाण है। आप निस्पृह साधक थे।

आपका जन्म सं. १७६५ भादवा सुदी १३ को हुआ। आपकी जन्मस्थली लांबिया गाँव है। यह गाँव मेड़ता से जेतारण जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। आपके पिता श्री मोहनलालजीमेहता (समदड़िया) और माता महिमा देवी थीं। आपका विवाह २२ वर्ष की अवस्था में लक्ष्मी देवी नाम की कन्या से हो चुका था; किन्तु गौना अभी बाकी था।

व्यापारिक कार्य से आप मेड़ता आये। वह कार्तिक पूर्णिमा का दिन था। आचार्य भूधरजी महाराज का चातुर्मास उस समय मेड़ता में ही था। चातुर्मास का अन्तिम दिन होने से सभी लोग अपना व्यापारिक कार्य बन्द करके भूधरजी म० का व्याख्यान सुनने गये थे। आप भी व्याख्यान सुनने पहुँच गये। प्रवचन का ऐसा असर पड़ा कि दीक्षा लेने का वज्र संकल्प कर लिया। आखिर सं. १७८७ मृगसिर वदी २ को भूधरजी स्वामी से दीक्षा ग्रहण कर ही ली।

आपकी साहित्य रचना भी उच्चकोटि की थी। अपने

साधनाकाल में आपने ७३-७४ रचनाओं का सृजन किया। आपकी ७१ रचनाओं का संकलन 'जयवाणी' नाम से प्रकाशित भी हो चुका है। उसमें स्तुति, सज्झाय, उपदेशीपद, चर्चा, दोहावली, चरित्र आदि सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। सभी गेय पद है। आज भी आपकी रचित अनेक सज्झाय स्थानकवासी श्रमण श्रमणियों को कण्ठस्थ है।

आपने दूर-दूर तक धर्म प्रचार हेतु विचरण किया। राजस्थान के अनेक क्षेत्रों को पावन किया। यतियों के गढ बीकानेर में सद्धर्म का डंका बजाया। राजन्यवर्ग में अहिंसा का प्रचार किया, उन्होंने मांस-भक्षण और शिकार-त्याग के नियम लिए, सद्धर्म के अनुरागी बने।

आप सतत जागरूक संत थे। 'कभी लेटकर नींद नही लूंगा' इस भीष्म प्रतिज्ञा का आपने अपनी मृत्यु-पर्यंत—५० वर्ष तक पालन किया।

आपने ५० वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित किया। १३ वर्ष तक शारीरिक निर्बलता के कारण आप नागौर में स्थिरवास रहे। वि. सं. १८५३ वैशाख सुदी १४ को आपने ३१ दिन के संथारे के बाद समाधिपूर्वक इस नश्वर देह का त्याग करके स्वर्गारोहण किया।

आपका सम्प्रदाय 'जयगच्छ' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस प्रकार मध्ययुग के स्थानकवासी परम्परा के अनेक सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय आज श्री वर्धमान स्थानक-

वासी जैन श्रमण संघ के रूप में एक आचार्य के नेतृत्व में प्रगतिशील हैं। इस श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज हुए और आज वर्तमान में द्वितीय आचार्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज[1] हैं। आप अत्यन्त शान्त, विनम्र और सरल स्वभाव के हैं, साथ ही संस्कृत, प्राकृत, फारसी, गुजराती, मराठी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान, आगम, न्याय आदि विषयों के गम्भीर विद्वान हैं। आपके नेतृत्व में श्रमण संघ फलता-फूलता रहे।

इस प्रकार जैन इतिहास कल्पवृक्षयुग (युगलिया युग) से प्रारम्भ होकर वर्तमान युग तक अनेक उतार-चढ़ाव से गुजरता रहा है। जैन इतिहास धारा में बीच बीच में अनेक अवरोध आये, समय के और विरोधियों के थपेड़े भी पडे, इसका चार भिन्न-भिन्न धाराओं में विभाजन भी हुआ, फिर भी जैनत्व की मंदाकिनी बहती

---

१ स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी जुलाई १९८० में श्रमणसंघ के आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषिजी म. के उत्तराधिकारी नियुक्त हुए। किन्तु असमय में ही आपका २६ नवम्बर १९८३ में नासिक में स्वर्गवास हो गया जिस कारण युवाचार्य पद रिक्त हो गया और श्रमणसंघ की अपूरणीय क्षति हुई।

पूना श्रमण सम्मेलन में श्रमणसंघ के उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनिजी तथा युवाचार्य श्री शिवमुनिजी घोषित हुए हैं।

—सम्पादक

रही, जन-जन के जीवन को सरसब्ज बनाती रही और आगे भी अपने अमृत प्रसाद से जन-जीवन को अनुप्राणित करती रहेगी।

यह गौरवशाली इतिहास परम्परा हमें अतीत का गौरव अनुभव कराती हुई भविष्य के लिए अनेक शिक्षाएँ व मार्गदर्शन देती है।



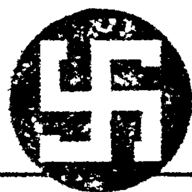
विशेष—(सम्पादकीय)

वर्तमान समय मे श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ मे पदाधिकारी इस प्रकार है—

१ आचार्य	७ प्रवर्तक
१ उपाचार्य	१ महामंत्री
१ युवाचार्य	२ मन्त्री
४ उपाध्याय	६ सलाहकार

तथा समस्त श्रमण संघीय श्रमण (सत) २२४, श्रमणी (सतिया) ७०२, कुलठाणा ९२६ विद्यमान है।

श्री समग् जैन चातुर्मास सूची १९८८
(जुलाई-अगस्त) के अनुसार



जैन विद्या और संस्कृति

शताब्दियाँ, सहस्राब्दियाँ और गणना से परे महाकाल के प्रवाह में असंख्यात काल व्यतीत हो गया। इस बीच अनेक धर्म संसार के रंगमंच पर आये और कुछ समय बाद ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए; उनमें से कुछेक का स्वरूप भी बदल गया। कुछेक का नाम—निशान भी और कुछेक आज अपने परिष्कृत-परिवर्तित रूप में विद्यमान हैं। किन्तु जैन परम्परा संजीवनी के समान अब भी प्राणवान है। स्थायी है।

किसी भी धर्म-दर्शन परम्परा के स्थायित्व का आधार सुपुष्ट और विकसित तत्वज्ञान होता है और जैन धर्म-दर्शन का सुपुष्ट तथा पूर्ण विकसित तत्वज्ञान है। इस तत्वज्ञान और इसकी समीचीनता को समझ लेना समुचित है।

तत्व : सामान्य विचारणा

लौकिक दृष्टि से तत्व शब्द के अर्थ होते हैं—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश आदि। जैसे —वार्तालाप के दौरान जब एक व्यक्ति अधिक बोलता

ही चला जाता है तो उसे बीच में ही रोककर कह दिया जाता है—आपका भाव क्या है? संक्षेप मे बताइये अथवा मतलब की बात पर आइये।

दार्शनिक क्षेत्र में तत्व शब्द के इन अर्थों को स्वीकार करते हुए परमार्थ, द्रव्य-स्वभाव, पर-अपर, ध्येय आदि के लिए तत्व शब्द का प्रयोग हुआ। आचार्य उमास्वाति ने तत्व शब्द को इस प्रकार व्याख्यायित किया है—तस्य-भावं तत्वं— जिस वस्तु, द्रव्य आदि का जो भाव है, वही उसका तत्व है।

भाव का अभिप्राय यहाँ स्वभाव, नैसर्गिक गुण है। दूसरे शब्दों में अस्तित्वमान वस्तु को तत्व कहा गया है।

ससार के सभी दर्शनों ने तत्व शब्द को ग्रहण किया है और अपनी-अपनी दृष्टि से इनकी भिन्न-भिन्न संख्या बताई है।

जैनदर्शन में तत्व स्वरूप

यह निश्चित है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः असत् की न तो व्याख्या हो सकती है और न उसे तत्व माना जा सकता है। अतः जैन तत्व मनीषियों ने तत्व का लक्षण सत् बताया है। सत् वह जो त्रिकालवर्ती है, सदा रहने वाला है, अवस्थित है।

इसी कारण तत्व समस्त चिन्तन-मनन और जिज्ञासा का आधार है, मूलबिन्दु है। वैज्ञानिक के भी मन-

मस्तिष्क में किसी भी वस्तु के रहस्य को जानने की जिज्ञासा उठती है—तत्व क्या है ? और इसी आधार पर वह अपने अनुसंधान को आगे बढ़ाता है।

साधक भी तत्व को जानने/समझने का तथा उस पर विश्वास करने का प्रयास करता है और ज्ञान व श्रद्धा प्राप्त होने के पश्चात वह अपनी साधना को गतिमान बनाता है।

भगवान महावीर ने भी तत्वों के यथार्थस्वरूप को जानने और उन पर दृढ़ श्रद्धा को सम्यक्त्व बताया है और यह सम्यक्त्व ही समस्त मोक्षलक्ष्यी साधना का आधार है।

तत्व संख्या की शैलियां

तत्वों की संख्या के लिए जैन तत्व मनीषियों ने संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा से तीन शैलियां अपनाई हैं।

प्रथम संक्षेप शैली के अनुसार तत्व दो हैं—(१) जीव और (२) अजीव

दूसरी मध्यम शैली के अनुसार तत्व सात हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष।

तीसरी विस्तार शैली की अपेक्षा तत्व नौ हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) बंध, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष।

यह सिर्फ कथन शैली है। दो, सात और नौ की संख्या में तथ्यात्मक भेद कोई नहीं है। वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो जीव और अजीव, इन दो तत्वों का विस्तार ही सात और नौ तत्व हैं।

प्रथम और द्वितीय शैली दर्शनग्रन्थों में प्राप्त होती है और तृतीय शैली के दर्शन आगम ग्रन्थो मे होते हैं।

तत्वों का वर्गीकरण

उपरोक्त नौ तत्वों का वर्गीकरण हेय, ज्ञेय और उपादेय—तीन प्रकार से किया गया है। जीव और अजीव ज्ञेय (जानने योग्य) तत्व है; संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय (ग्रहण करने योग्य) तत्व हैं और आस्रव, बंध, पाप हेय (त्याग करने योग्य) तत्व हैं; तथा पुण्य ऐसा तत्व है जो किसी अपेक्षा से ग्रहण करने योग्य है तथा किसी अपेक्षा से त्यागने योग्य; इसका भाव यह है कि जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण नहीं कर पाता तब तक उसे शुभाचरण—पुण्य का आचरण करना चाहिए और ज्यों ही आत्म-परिणति शुद्धभावों में लीन हुई कि पुण्य स्वयं ही छूटने लग जाता है।

१ जीव तत्व

जीव का लक्षण उपयोग है (जीवो उवओग लक्खणो) उपयोग को शास्त्रों में दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) दर्शनोपयोग और (२) ज्ञानोपयोग। किन्तु

व्यावहारिक दृष्टि से उपयोग शक्ति दो प्रकार से काम करती है—१. प्राणधारण और २. चेतना।

प्राणधारण का अभिप्राय है—जीवित रहना, दस प्रकार के प्राणों को धारण करना और चेतना का अभिप्राय है—१. जानने की शक्ति और २. अनुभव अथवा संवेदन करने की शक्ति। इसी चेतना शक्ति के कारण ही जीव जानता है और सुख-दुःख की अनुभूति करता है।

स्वभाव से जीव शाश्वत है, नित्य है, अजर है, अमर है।

जीव स्वयं कर्मों का कर्ता है और अपने किए कर्मों के फल का भोक्ता भी यही है। यह स्वदेह परिमाण है अर्थात् जिस शरीर में रहता है, उस संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

व्यावहारिक और विज्ञान सम्मत विचारधारा के अनुसार—

१. जीव में प्रजनन शक्ति (सन्तानोत्पादन) शक्ति होती है।

२. यह आहार ग्रहण करता है।

३. विसर्जन (मल-मूत्र तथा अन्य व्यर्थ पदार्थों को शरीर से बाहर निकालना) करता है।

४. यह जागता है, सोता है, थकता है, विश्राम करता है।

५. इसे काम-क्रोध, हर्ष-शोक, सुख-दुःख तथा भय-त्रास आदि की अनुभूति होती है तथा दुःख आदि प्रतिकूलताओं से बचने का तथा अपनी रक्षा का प्रयास भी करता है।

संसारी जीवों की विभिन्न श्रेणियां

जीव के लक्षण बताते हुए उपरोक्त पंक्तियों में कहा गया था कि जीव की एक शक्ति 'प्राणधारण' भी है—"जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः। प्राणधारण करने से ही जीव जीवित रहता है, स्पष्ट शब्दों में जीवन का लक्षण प्राण ही हैं।

प्राण दो प्रकार के हैं—(१) द्रव्य और (२) भाव। भाव प्राण जीव की स्वाभाविक शक्तियां हैं जो दिखाई नहीं देती। द्रव्यप्राण, वे शक्तियां जो दिखाई देती हैं, अन्य लोग इन्हें जान सकते हैं।

भाव प्राण चार प्रकार के हैं—१. ज्ञान २. दर्शन ३. सुख और ४. वीर्य। यह चारों प्राण प्रत्येक जीव-आत्मा में अवश्य रहते हैं। इनके अभाव में जीव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इतना अवश्य है कि परमात्म दशा में ये चारों प्राण पूर्णतः अनावृत होते हैं और संसारी आत्मा में आवृत। इस आवरण में भी तरतम भाव है। अत्यन्त अविकसित जीवों में ये अधिक गाढ़ रूप से आवृत होते हैं और ज्यों-ज्यों जीव विकास करता जाता है, आवरण कम अथवा शिथिल होता जाता है।

द्रव्य प्राणों के दस भेद हैं—१. श्रोत्रेन्द्रिय बल प्राण, २. चक्षु इन्द्रिय बल प्राण, ३. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण, ४. रसना इन्द्रिय बल प्राण, ५. स्पर्शन इन्द्रिय बल प्राण ६. कायबल प्राण, ७. वचनबल प्राण, ८. मनबल प्राण ९. श्वासोच्छवास बल प्राण और १०. आयुबल प्राण।

ये प्राण व्यावहारिक हैं, प्रत्यक्ष हैं, स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं।

यद्यपि यह प्राण सभी संसारी जीवों के होते हैं, लेकिन सभी जीवों के ये दसों प्राण नहीं होते। विकास की अपेक्षा इनमें भी तरतम भाव है। इसीलिए संसारी जीवों का विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया गया है, अथवा इनकी कई श्रेणियाँ हैं।

इनके प्रमुख भेद अथवा वर्ग दो हैं—(१) स्थावर, (२) त्रस।

स्थावर जीव

स्थावर वे जीव हैं जो अपनी हितबुद्धि से प्रेरित होकर हलन-चलन न कर सकें, एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन न कर सकें, धूप से छाया में अथवा छाया से धूप में न आ-जा सकें।

स्थावर जीव पांच प्रकार के हैं—१. पृथ्वीकायिक, २. जलकायिक, ३. अग्निकायिक, ४. वायुकायिक और ५. वनस्पतिकायिक।

कायिक का अभिप्राय है शरीर वाले। जिन जीवों का

शरीर पृथ्वी होता है, वे पृथ्वीकायिक हैं। इसी प्रकार जिन जीवों का शरीर ही जल है, वे जलकायिक हैं। इसी तरह तेजस् शरीर वाले तेजस्कायिक, वायु शरीर वाले वायुकायिक और वनस्पति शरीर वाले वनस्पति कायिक।

जल की एक बूद में वैज्ञानिकों ने हजारों-लाखों की संख्या में चलते-हिलते जीव देखे है, वे जलकायिक जीव नहीं हैं, वे तो जल के आश्रय में रहने वाले त्रसकायिक जीव हैं। इसी प्रकार वृक्षों के आश्रय से रहने वाले चींटी, दीमक आदि जीव वनस्पतिकायिक नहीं है, अपितु त्रस-कायिक हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद हैं—(१) साधारण और (२) प्रत्येक। जिस वनस्पति में एक ही जीव हो, वह प्रत्येक वनस्पतिकाय कही गई है और जिस वन-स्पति में एक से अधिक, असंख्यात अनन्त जीव रहते हैं, वह साधारण वनस्पतिकाय है।

यह पाँचों स्थावर एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके स्पर्शन नाम की एक ही इन्द्रिय होती है। इनके आयुबल, शरीर बल, इन्द्रियबल और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। यानी ये श्वासोच्छ्वास लेते हैं। श्वास-प्रश्वास क्रिया इनमें होती है।

सभी एकेन्द्रिय जीव सुख-दुःख का वेदन करते हैं, हर्ष और शोक प्रकट करते हैं और अवांछित व्यक्ति से भय तथा त्रास भी पाते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों अर्थात् पेड़-पोधों की संवेदन शक्ति तो आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। न्यूयार्क के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० वेक्स्टर ने तो यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि पेड़-पौधे मानव द्वारा बोले गए झूठ को भी पकड़ सकते हैं और हत्यारों को भी पहचान सकते हैं।

आज से २६०० वर्ष पहले भगवान महावीर ने स्थावरकायिक जीवों की संवेदनशीलता का वर्णन किया था, जो आचारांग में प्राप्त है।

जैन परंपरा में तो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और वनस्पति की सचेतनता और परमाणु की प्रचण्ड शक्ति का वर्णन लाखों साल पहले से ही मिलता है।

त्रस जीव

त्रस जीव वे कहलाते हैं, जो अपनी हितबुद्धि से इधर-उधर गमनागमन करते रहते हैं। इनके सकलेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय दो भेद हैं। विकलेन्द्रिय वे कहे जाते हैं, जिनको पूरी पाँच इन्द्रियाँ न प्राप्त हों। इनके तीन भेद हैं—

(१) द्वीन्द्रिय जीव—इनको स्पर्शन (शरीर) और रसना (जीभ) ये दो इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। लट, जोंक शंख आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं। स्पर्श के साथ ऐसे जीव रस का स्वाद भी ले सकते हैं।

(२) त्रीन्द्रिय जीव—इन जीवों के तीन इन्द्रियां होती

हैं—(१) शरीर, (२) रसना और (३) घ्राण। चींटी, कानखजूरा आदि त्रीन्द्रिय जीवों के उदाहरण हैं। स्पर्श, रस के अतिरिक्त इनमे सूंघने की शक्ति भी पायी जाती है।

(३) चतुरिन्द्रिय जीव—इन जीवों के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु—यह चार इन्द्रियाँ पाई जाती हैं। ये जीव देख भी सकते हैं। मक्खी, मच्छर, टिड्डी, बिच्छू, पतंगे आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

सकलेन्द्रिय जीव वे कहलाते हैं, जिनको स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियाँ प्राप्त हों। इनके संज्ञी और असंज्ञी दो भेद हैं।

असंज्ञी जीव वे कहलाते हैं, जिनके मन (द्रव्यमन) न हो। एकेन्द्रिय से चार इन्द्रिय तक के सभी जीव बिना मन वाले अथवा असंज्ञी ही होते हैं। किन्तु कुछ पंचेन्द्रिय जीव भी असंज्ञी होते हैं, जैसे पानी में रहने वाले सर्प आदि।

संज्ञी जीव मन सहित होते हैं। इनके चार प्रमुख भेद हैं—(१) नारकी (२) देव (३) मनुष्य और (४) पशु अथवा तिर्यंच।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के पांच वर्ग हैं—

(१) जलचर—जल में रहने वाले मत्स्य आदि।

(२) स्थलचर—भूमि पर चलने फिरने वाले प्राणी गाय, भैंस, हाथी, घोड़े, शेर, चीते, हिरन आदि।

(३) भुजपरिसर्प—भुजाओं के वल पर चलने वाले नेवला, चूहा आदि ।

(४) उरपरिसर्प—उर यानी छाती के वल चलने वाले सर्प आदि ।

(५) खेचर—इन्हें नभचर भी कहते हैं । ये आकाश में उड़ते हैं । कवूतर, चिड़िया, हंस, कौवे, चील आदि इन जीवों के उदाहरण हैं ।

मनुष्य नियम से पंचेन्द्रिय होते हैं । जन्म से ही वधिर (वहरे) को चतुरिन्द्रिय और अंधे तथा वहरे को त्रीन्द्रिय मानना सर्वथा भ्रांत है । इनकी इन्द्रियाँ तो पाँचों ही होती हैं, सिर्फ निर्वृत्ति का वाहरी आवरण सदोष होता है । तभी तो स्वस्थ आँख लगते ही जन्मान्ध देखने लगते हैं और उचित शल्य क्रिया से वहरे भी सुनने में सक्षम हो जाते हैं ।

इनके अतिरिक्त नारकी और देव तो संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं ही ।

संसार में सर्वत्र त्रस और स्थावर के रूप में जीव प्राप्त होते हैं ।

२. अजीव तत्व

अजीव तत्व जीव के विपरीत लक्षण वाला है । इसमें चेतना अथवा सुख-दुःख की अनुभूति की योग्यता

और क्षमता नहीं होती। इसे अचेतन अथवा जड़ भी कहा जाता है।

अजीव तत्व के पांच भेद हैं—(१) पुद्गल (२) धर्म-द्रव्य (३) अधर्म द्रव्य (४) आकाश और (५) काल। इनमें से पुद्गल द्रव्य रूपी और शेष ४ द्रव्य अरूपी हैं। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण हों, उसे रूपी कहा जाता है और जिसमें यह चार गुण न हों उसको अरूपी।

१. पुद्गल द्रव्य

पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—यह चार गुण होते हैं। *पूरण और गलन इसका स्वभाव है।* पूरणाद् गलनाद् पुद्गलः। इसके तिकोन, चौकोन, वर्ग, वृत्त आदि विभिन्न आकार है।

पुद्गलों के मिलने और विलग होने की क्रिया स्वाभाविक रूप से भी चलती है और प्रयोग से भी। पुद्गल की इस क्रिया से देश, प्रदेश, स्कन्ध आदि का निर्माण भी होता है, और स्कन्धों का विभिन्न प्रयोगों से भी विखण्डन होता है, जैसा कि आज के वैज्ञानिक कर रहे हैं।

स्कन्ध, अन्धकार, छाया, प्रकाश, शब्द आदि पुद्गल के ही विभिन्न रूप हैं।

इसके उदाहरण ईंट, चूना, पत्थर, चाँदी सोना आदि हैं।

वैज्ञानिक इसे मैटर (Matter) कहते है। ऊर्जा,

चुम्बकत्व आदि भी पुद्गलों के परिणमन से निष्पन्न होते हैं।

संसार में जितनी भी दृश्यमान, स्पर्शयोग्य, रसमय, गन्धमय और शब्दमय वस्तुएँ हैं सब पुद्गल हैं।

पुद्गल जीव की विभिन्न क्रियाओं में सहायक भी होता है और वाधक भी।

पुद्गल के जिस सूक्ष्मतम अंश का और कोई टुकड़ा अथवा विभाजन हो सके, उसे परमाणु (परम+अणु) कहा गया है।

परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध का निर्माण करते हैं और पुनः विभाजित होकर परमाणु का रूप ले लेते हैं। यह पुद्गल की सहज क्रिया है।

२. धर्म (गति सहायक) द्रव्य

धर्म का अभिप्राय ऐसे तत्व से हैं जो स्वयं गतिशील नहीं है किन्तु गतिमान अथवा गतिक्रिया में प्रवृत्तिशील वस्तुओं की गमन क्रिया में सहायक होता है। इसकी सहायता के विना गति असम्भव है।

किन्तु धर्म द्रव्य किसी भी व्यक्ति को चलने के लिए प्रेरित नहीं करता; सिर्फ गतिक्रिया में उदासीन सहायक वनता है।

गतिशील द्रव्य दो ही हैं—(१) जीव और (२) पुद्गल। शेप चार द्रव्य (धर्म, अधर्म, आकाश और काल)

गतिशून्य हैं। ये कहीं भी गति नहीं करते, सदा अपने स्थान पर ही अवस्थित रहते हैं।

धर्म द्रव्य भी जीव पुद्गल को गति मे सहायता करता है।

आधुनिक विज्ञान ने भी Ether कहकर धर्म द्रव्य को मान्यता दी है। वैज्ञानिको का कथन है, एक रंगहीन, पदार्थ समस्त ब्रह्माण्ड मे व्याप्त है, जिसे देखा नही जा सकता, छूआ नही जा सकता, किन्तु इतना निश्चित है कि इसके अभाव मे गति नही की जा सकती, यह गति का अनिवार्य और आवश्यक माध्यम है। रेडियो तरंगें, लेजर किरणें आदि जैसी सूक्ष्म किरणे भी इसी Ether के माध्यम से ही गति करती हैं।

शास्त्रो मे धर्म द्रव्य के लिए मछली और पानी का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे—गमन करने की शक्ति स्वयं मछली में ही है, वह अपनी इच्छा से ही तैरती है, किन्तु पानी उसके लिए अनिवार्य माध्यम है; पानी के अभाव मे वह गमन नही कर सकती।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल भी अपनी शक्ति से ही गमन करते हैं, किन्तु उनकी गमन क्रिया के लिए धर्म, द्रव्य, स्वय अवस्थित रहते हुए भी अनिवार्य माध्यम है।

३. अधर्म (स्थिति सहायक) द्रव्य

अधर्म द्रव्य का कार्य धर्म द्रव्य से विपरीत है। धर्म द्रव्य गति मे सहायक है तो अधर्म द्रव्य स्थिति मे सहा-

यता करता है। जीव और पुद्गल को ठहरने, रुकने, स्थित होने में यह माध्यम अथवा निमित्त है।

शास्त्रों में इसके लिए वृक्ष की छाया का दृष्टान्त दिया गया है। धूप से पीड़ित चलता हुआ पथिक जब विश्राम की इच्छा करता है तो वृक्ष की छाया उसके ठहरने—विश्राम करने की इच्छा में सहायभूत हो जाती है, एक उदासीन निमित्त बन जाती है।

यह सत्य है कि ठहरने की इच्छा और शक्ति पथिक में ही है। छाया उसको ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करती, आह्वान भी नहीं करती कि 'हे पथिक! तुम विश्राम कर लो, अपनी थकान मिटा लो, आओ, यहाँ बैठकर अपना पसीना सुखा लो।' हाँ, यदि पथिक स्वयं चाहे तो छाया उसके विश्राम का उदासीन निमित्त या माध्यम हो जाती है।

धर्म-अधर्म द्रव्य के अस्तित्व की शंका का समाधान

इस संसार में धर्म-अधर्म द्रव्य का बहुत महत्व है। (१) यह शंका हो सकती है कि जब गमन करने और ठहरने की शक्ति स्वयं जीव में ही है तो फिर धर्म-अधर्म द्रव्य की आवश्यकता ही क्या है?

इसका समाधान इस प्रकार दिया जा सकता है। यह सत्य है कि शक्ति जीव में ही है; किन्तु कार्य की निष्पन्नता के लिए निमित्त का होना भी अनिवार्य है।

उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति बहुत विद्वान है, गम्भीर सारगर्भित लेख लिख सकता है, तलस्पर्शी विवेचन कर सकता है, किन्तु अपने भावो को अभिव्यक्ति देने के लिए उसे कागज, पेन, स्याही आदि बाह्य निमित्तो की अनिवार्य आवश्यकता है, यदि ये साधन न मिलें तो वह अपने विचारो को व्यक्त नही कर सकता। साथ ही यह भी सत्य है कि कागज, कलम आदि उस व्यक्ति को लिखने के लिए प्रेरित नही करते यदि उसको इच्छा हो तो लिखे न इच्छा हो तो न लिखे।

यही स्थिति धर्म द्रव्य की है। वह भी गमन क्रिया मे उदासीन निमित्त है, गमन के लिए प्रेरणा नही देता।

दूसरा उदाहरण लीजिए—कमरे मे पलंग पडा है। उस पर डनलपिलो का गुदगुदा गद्दा बिछा है, तकिया भी है, रात्रि का समय है, सोने का टाइम है, किन्तु यदि इन्सान की इच्छा अभी सोने की नही है तो वह पलग उसे सोने के लिए न आव्हान करता है और न विवश ही करता है। मनुष्य सोए या न सोए, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है।

यही स्थिति अधर्म द्रव्य की है। वह भी जीव को ठहरने के लिए न प्रेरित करता है और न विवश ही करता है, यह तो स्थिति मे सिर्फ उदासीन निमित्त मात्र ही है।

यह दोनो दृष्टात धर्म-अधर्म की कार्यकारिता के व्यावहारिक प्रमाण हैं।

धर्म-अधर्म द्रव्य का महत्व

संसार की व्यवस्था में इन दोनों द्रव्यों का बहुत महत्व है। यदि यह दोनों द्रव्य न हों तो संसार की गति और स्थिति में बहुत बड़ा व्यवधान पड़ जायगा।

अधर्म द्रव्य के अभाव में संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं रहेगी। सभी चलती ही रहेंगी, भागमभाग ही बनी रहेगी। हाथ अगर चल रहा है तो गतिमान ही रहेगा, शरीर भी स्थिर न रह सकेगा, फिर मनुष्य नींद भी कैसे ले सकेगा। बड़ी अव्यवस्था हो जाएगी।

धर्म द्रव्य के अभाव की कल्पना तो और भी त्रास-दायी है। गतिशीलता का अभाव हो जाएगा, सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर अवस्थित हो जायेगी। सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-तारे अपने स्थान पर जड़ हो जायेंगे, तब न दिन होगा, न रात, यहाँ तक कि जीवन का कोई चिन्ह शेष नहीं रहेगा। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी अपने स्थानों पर कीलित से रह जायेंगे।

स्थिति वैसी ही दिखाई देने लगेगी, जैसी जादू कथाओं में पढ़ने को मिलती हैं कि किसी जादूगर ने अपने जादू से पूरे नगर को ही जड़ बना दिया—दूकान खुली है, गद्दी पर सेठ बैठे हैं, ग्राहक खड़े हैं, दुकान में सामान भी है; लेकिन सभी जड़ बने हुए हैं, कोई हलन-चलन नहीं, कोई क्रिया नहीं।

अविराम गतिमयता और जड़वत् शून्यता दोनों ही

भयंकर हैं, दोनों में ही सृष्टि का विनाश अवश्यम्भावी है। अविराम गतिशीलता से प्रत्येक वस्तु विखण्डित होकर बिखर जायगी और जड़वत् स्थिति का परिणाम भी विनाश ही है।

धर्म और अधर्म दोनों द्रव्यों का महत्व यह है कि गति-स्थिति का संतुलन बना रहता है और संसार तथा संसार के सभी कामों में सुव्यवस्था बनी रहती है।

लोक व्यवस्था में भी धर्म और अधर्म द्रव्य का बहुत महत्व है। इन दोनों द्रव्यों द्वारा ही लोक की सीमा निर्धारित होती हैं। यानी लोक और अलोक की सीमा निर्धारण करने वाले ये दोनों द्रव्य ही हैं।

कारण कि जीव और पुद्गल गतिशील द्रव्य हैं। संसारी जीव के समान पुद्गल-परमाणु, स्कन्ध, प्रदेश आदि भी अपना स्थान बदलते रहते है। आकाश तो अनन्त है ही। वह लोकाकाश में भी व्याप्त है और अलोकाकाश में भी। फिर वह अखण्ड द्रव्य है। तब लोकाकाश की सीमा कैसे निर्धारित हो? कैसे ज्ञात हो कि यहां तक—आकाश के अमुक बिन्दु अथवा प्रदेश तक लोक है और उसके आगे अलोक।

लोक-अलोक की सीमा धर्म और अधर्म द्रव्य दो प्रकार से निर्धारित करते है। प्रथम, ये दोनो द्रव्य संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं, अतः जहां तक इनकी व्याप्ति है, वहां तक लोकाकाश है। द्वितीय, लोकाकाश के आगे धर्म द्रव्य न होने से जीव और पुद्गल आगे अलोकाकाश

में गति नहीं कर पाते, अतः लोकाकाश और अलोकाकाश की सीमा रेखा निर्धारित हो जाती है।

इस प्रकार लोक व्यवस्था तथा संसार के सुचारु संचालन में धर्म और अधर्म द्रव्य का अनिवार्य महत्व है।

आकाश द्रव्य

सभी द्रव्यों—वस्तुओं को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश कहा जाता है। शास्त्रों में इसका लक्षण ही अव-गाहन देने वाला बताया गया है।

आकाश को आधुनिक वैज्ञानिक स्पेस (space) कहते हैं।

आकाश सभी द्रव्यों से विशाल है। इसके दो भेद हैं—

(१) लोकाकाश—आकाश के जितने अंश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोकाकाश कहा गया है।

(२) अलोकाकाश—लोकाकाश के चारों ओर अनंत आकाश है, वहां आकाश के अतिरिक्त अन्य कोई भी द्रव्य नहीं है, वह अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है।

आकाश सर्वत्र व्यापक है। निर्वात स्थानों में भी आकाश है। इसका महत्व असंदिग्ध है। अवगाहन देने

वाले आकाश के अभाव में कोई वस्तु कहां ठहरेगी। इसीलिए इसे सबका अवस्थान देने वाला कहा गया है। पूर्व आदि दिशाओं-विदिशाओं की अवस्थिति भी आकाश में है। सूर्य, चन्द्र आदि ग्रह नक्षत्र भी आकाश में ही अवस्थित और गतिशील हैं, जिनकी गति से व्यवहार काल—दिन-रात-वर्ष आदि की गणना की जाती है।

काल द्रव्य

काल का अभिप्राय समय (time) है। द्रव्य दृष्टि से इसके सूक्ष्मतम अविभाज्य मान अंश को कालाणु कहा गया है। यह कालाणु रत्नराशि के समान संपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

काल के दो भेद हैं—(१) निश्चय काल और (२) व्यवहार काल।

निश्चय काल एक समय मात्र है।

व्यवहार काल की गणना भी यद्यपि समय से प्रारम्भ होती है किन्तु उसकी गणना विस्तृत है। समय से प्रारम्भ होकर आवलिका, घड़ी, मुहूर्त, दिन-रात, संवत्सर तथा संख्यात वर्षों तक की गणना तक इसका आयाम विस्तृत है।

इसके आगे पल्योपम, सागरोपम की गणना उपमा-काल कहलाती हैं, क्योंकि इनकी गणना उपमा द्वारा की जाती है।

यह सब व्यवहार काल है, जो ढाई-द्वीप (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण है।

वर्तना, परिणाम, परत्व-अपरत्व यह कालद्रव्य के कार्य हैं।

वर्तना का अभिप्राय है—प्रत्येक पदार्थ की पर्याय बदलने में निमित्त बनना। काल प्रत्येक द्रव्य के परिणमन, पर्याय बदलने और क्रिया में निमित्त बनता है।

आगे-पीछे, ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व, नया-पुराना आदि व्यवहार परत्व-अपरत्व कहलाता है। यह वस्तु पुरानी है, अथवा नई है, राम श्याम से छोटा है अथवा बड़ा है, यह सब व्यवहार काल के आधार पर किया जाता है। पृथ्वी की आयु, पृथ्वी के गर्भ में से प्राप्त कंकाल, पर्वत आदि कितने पुराने हैं, इन सबकी आयु-गणना अथवा प्राचीनता का आधार भी काल ही है।

इस प्रकार काल—विशेष रूप के व्यवहार काल का उपयोग तथा महत्व, प्रत्येक सांसारिक गतिविधि में असंदिग्ध है।

द्रव्य और अस्तिकाय

अस्तिकाय उस द्रव्य को कहा जाता है, जिसके प्रदेश समुच्चय रूप हों, परस्पर सम्बन्धित और सम्बद्ध हों। इस दृष्टि से जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को अस्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इनके प्रदेश समुच्चय रूप हैं, परस्पर सम्बन्धित हैं।

इसी कारण जीव आदि द्रव्यों के लिए जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय—ये प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।

लेकिन काल द्रव्य के अणु (कालाणु) न समुच्चय रूप हैं और न परस्पर सम्बन्धित। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। इसीलिए काल को अस्तिकाय नहीं कहा गया, अपितु काल द्रव्य कहा गया है।

द्रव्य व्यवस्था का महत्व

जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—यह छह द्रव्य सृष्टि के अनिवार्य घटक हैं। इन्हीं के आधार पर यह सृष्टि अवस्थित है और सृष्टि की यह अवस्थिति सहज है, स्वाभाविक है, अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगी। इस सृष्टि का न कभी आदि हुआ, न कभी अन्त होगा, इसी रूप में रहेगी। हां, थोड़े-बहुत हल्के-फुल्के परिवर्तन होते रहे हैं, होते रहेंगे। इसका निर्माणकर्ता अथवा विध्वंसकर्ता ईश्वर आदि कोई शक्ति नहीं है।

यह समस्त संसार और उसका पसारा ये जीव और अजीव दो तत्व ही हैं। जैन दर्शन वर्णित नव-तत्वों का आधार भी जीव और अजीव दो तत्व ही हैं।

३. पुण्य तत्व

शुभ कर्मों को पुण्य कहा जाता है।

पुण्य का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है— आत्मानं पुनीतीति पुण्यं। पुण्य आत्मा को पुनीत अथवा पवित्र करता है।

पुनीत और पवित्र इस अर्थ में कि शुभ भाव और अध्यवसाय से की जाने वाली सभी प्रवृत्तियाँ आत्मिक उन्नति में—आत्मा के सद्गुणोद्भावन में सहायक बनती हैं, आत्मा उन भावों से पवित्रता शुचिता की ओर बढ़ती है। शुभ कार्यों से स्वयं जीव तथा आस-पास के अन्य प्राणी भी सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं।

इसीलिए शुभ कार्यों अथवा पुण्य का लौकिक फल मीठा कहा गया है। यह आत्मा के अनुकूल होता है, सुख का वेदन कराता है।

अहिंसा, दया, परोपकार, सेवा, समाज-सहयोग, दीन और जरूरतमन्द व्यक्तियों की सहायता आदि सभी शुभ अथवा पुण्य कार्य हैं।

पुण्य के प्रमुख रूप से दो भेद हैं—(१) पुण्यानुबन्धी पुण्य और (२) पापानुबन्धी पुण्य। इन्हें यों समझें—

एक व्यक्ति को पुण्य के फलस्वरूप धन आदि ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई, उसने उस सम्पत्ति का सदुपयोग किया, दान आदि शुभ कार्यों में लगाया तो पुण्य का उपार्जन किया। ऐसा पुण्य भविष्य में आत्मा को मुक्ति मार्ग की ओर अग्रसर होने में सहायक बनता है।

दूसरे व्यक्ति को भी धन-ऐश्वर्य, बलिष्ठ-सुन्दर शरीर की प्राप्ति हुई किन्तु वह विषय-भोगों में फंस गया। परिणामस्वरूप वह पाप कर्मों का बन्ध करने

लगा। अपनी आत्मा को पतित करने लगा। ऐसा पुण्य भविष्य में दुर्गति का कारण बन जाता है।

शुभ कार्य इतने हैं कि जिनकी गिनती करना असंभव-प्राय है। फिर भी जैन शास्त्रों में इन सब प्रवृत्तियों का नौ भागों मे वर्गीकरण किया है और इन्हें पुण्य अथवा पुण्य बन्ध का कारण बताया है—

(१) अन्नपुण्य—पात्र को शुभ भावों से भोजन देने से।

(२) पानपुण्य—शुभ भावो से जल आदि द्वारा पात्र की तृषा शांत करने से।

(३) लयनपुण्य—पात्र (जरूरतमंद) को अनुकम्पापूर्वक शुभ भावों से स्थान देकर।

(४) शयनपुण्य—पात्र को विश्राम स्थल शुभ भावों से देकर।

(५) वस्त्र पुण्य—दया की भावना से पात्र को वस्त्र देने से।

(६) मन पुण्य—प्राणी मात्र के प्रति हृदय में शुभ भावना रखने से।

(७) वचन पुण्य—मधुर वचनों से किसी दुखी, रुग्ण, अभावग्रस्त व्यक्ति का सुख-शाता देना, गुणी व्यक्तियों का गुणोत्कीर्तन करना, हित-मित-तथ्य और सत्य वचन बोलना, सभी के साथ मधुर वाणी में आलाप-संलाप करना।

(८) काय पुण्य—रुग्ण, दुर्बल असहाय व्यक्तियों की शरीर द्वारा सेवा करना।

(९) नमस्कार पुण्य—सरल तथा गुणज्ञ भाव से विनयपूर्ण व्यवहार करना।

इन सभी कार्यों से पुण्य का बन्ध होता है।

४. पाप तत्व

पाप तत्व, पुण्य तत्व के विपरीत है। यह अशुभ कर्म है। इसके कारण आत्मा की-चित्त की प्रवृत्ति मलिन होती है। फलस्वरूप आत्मा का पतन होता है, इससे सद्गुणों की हानि होती है।

इसका लौकिक फल कड़वा है, भोगने में दुखानुभूति कराता है। दुःख, शोक, ताप, आक्रन्द, आपत्ति, अनिष्ट संयोग, इष्ट-वियोग, पुत्र का कुपुत्र हो जाना, धन-हानि, दरिद्रता, अभावग्रस्तता, दुर्बल शरीर, रोगग्रस्तता, पुत्र-स्त्री आदि परिवारी जनों की उपेक्षा, अपयश, अकीर्ति आदि सभी पाप के ही परिणाम हैं।

पाप जीव की कलुषित, क्रूर और विग्रहकारी प्रवृत्तियों से बँधता है। मानव की बुद्धि तथा उसके क्रिया कलाप जब विपथगामी और विध्वंसकारी बन जाते हैं, तब पाप बन्ध होता है।

जैन शास्त्रों १८ पापस्थानक बताये हैं—

(१) प्राणातिपात— जीवों का घात करना, उन्हे सन्ताप-परिताप देना।

(२) मृषावाद—असत्य अथवा मिथ्या भाषण करना।

(३) अदत्तादान—किसी की बिना दी हुई वस्तु उठा लेना, गांठ काट लेना, जेब काट लेना, मकान में सेंध लगाना इत्यादि प्रकार से चोरी करना, धन का अपहरण, स्त्री अथवा बच्चों का अपहरण करना।

(४) मैथुन सेवन करना।

(५) परिग्रह—संग्रह, धन आदि बाह्य वस्तुओं में आसक्ति रखना।

(६) क्रोध—(७) मान—अभिमान, अहंकार (८) माया—छल, कपट, धूर्तता, (९) लोभ—तृष्णा, लोलुपता, लालच करना।

(१०) राग—सांसारिक वस्तुओं के प्रति प्रीतिरूप परिणाम। इनके तीन भेद हैं—(क) कामराग—अपनी इच्छा पूरी होने पर होने वाली आसक्ति, (ख) स्नेह राग—स्नेही जन, मित्र, परिवारी जनो की अपने प्रति अनुकूल प्रवृत्ति (प्रतिक्रिया) से अपने मन-मानस में उत्पन्न होने वाली आसक्ति, (ग) दृष्टिराग—अपनी मान्यता के प्रति हठाग्रह-कदाग्रह तथा इनके प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया के प्रति आसक्ति।

(११) द्वेष—सांसारिक पदार्थों, व्यक्तियों के प्रति

मन में उद्विग्नता का भाव। इसके तीन भेद हैं—(क) काम द्वेष—कामना पूरी न होने पर होने वाला उद्वेग, (ख) स्नेह द्वेष—स्नेही, मित्र, परिवारीजनों की प्रतिकूल प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाला मानसिक उद्वेग, (ग) दृष्टि द्वेष—दूसरों की मान्यताओं पर घृणा तथा अपनी मान्यता को स्वीकार न करने वालों के प्रति असूयाभाव।

(१२) कलह—क्लेश, संघर्ष आदि।

(१३) अभ्याख्यान—मिथ्या दोषारोपण करना।

(१४) पैशुन्य—चुगली खाना, किसी की अनुपस्थिति में उसकी निन्दा करना।

(१५) परपरिवाद—दूसरों का अपयश फैलाना, जो दोष उस व्यक्ति में न भी हों, ऐसे दोष लगाना और उनका प्रचार-प्रसार करना।

(१६) रति—भोगों की ओर आकर्षण, प्रीति। अरति—धर्म कार्यों, संयम आदि के प्रति अरुचि।

(१७) मायामृषावाद—छल-कपट और वाग्जाल रचते हुए ऐसे वचन बोलना जो वास्तव में हों तो झूठ किन्तु सुनने वाले को सत्य लगें।

(१८) मिथ्यादर्शन शल्य—आत्मा के स्वरूप के प्रति भ्रान्ति, असत्य-श्रद्धान, भ्रान्त विश्वास।

इन १८ प्रकार के आचरणों (चित्त की वृत्ति, मन

की प्रवृत्ति और क्रिया-कलापो) से पाप का बन्ध होता है, जो परिणाम में महादुखप्रद है।

५. आस्रव तत्व

आस्रव का अभिप्राय है—आना, प्रवाहित होकर आना। जिस प्रकार खुली खिडकी से प्रवाहित होती हुई वायु कमरे के अन्दर आती है, वैसा ही स्वरुप आस्रव का है।

शास्त्रों में इसके लिए मोरियों का दृष्टान्त दिया है जिस प्रकार मोरियों से वहता हुआ जल तालाव में आता है, उसी प्रकार कार्मण वर्मणाएं भी आत्मा रूपी सरोवर में आती हैं। और जिस प्रकार मोरियों का ढालूपन तथा तालाव की नीचाई जल को गिरने का, प्रवाह रूप से आने का मार्ग देती है, उसी प्रकार आत्मा की प्रवृत्तियाँ भी कार्मण वर्णणाओं को आकर्षित करती है।

संसारी जीव निरन्तर प्रवृत्तियो में उलझा रहता है। उसे प्राप्त मन-वचन-काय के योग सदैव चंचल रहते हैं। मन कुछ न कुछ धमा-चौकड़ी बन्दर के समान मचाता रहता है। वचनयोग कभी अन्दर ही अन्दर तो कभी मन्द स्वर में और कभी उच्च स्वर में कुछ न कुछ बोलता ही रहता है, काय यानी शरीर भी चंचल है, स्थिर रह ही नही पाता। इव सब क्रिया-कलापो में राग

का, मोह का किसी न किसी प्रकार का रंग घुला ही रहता है।

राग-द्वेष-मोह प्रेरित मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ ही कार्मण वर्गणाओं को आकर्षित करने का कार्य करती हैं। यही आस्रव है।

आस्रव दो प्रकार का है—(१) भावास्रव और द्रव्यास्रव।

भावास्रव जीव की राग-द्वेष युक्त प्रवृत्तियां हैं और द्रव्यास्रव कार्मण वर्गणाओं का आकर्षित होना है।

अन्य अपेक्षा से आस्रव के प्रमुख भेद ५ हैं—

(१) मिथ्यात्व आस्रव—जीव के असत्य श्रद्धान रूप अथवा आत्मस्वरूप में भ्रान्ति विषयक या आत्मा की ओर अरुचि रूप भाव तथा तत्वों में विपरीत बुद्धि और इन भावों से आकर्षित द्रव्य-पुद्गल कार्मण वर्गणाओं का आगमन।

(२) अविरति आस्रव—संसार और इन्द्रिय विषयों का त्याग न करना, त्याग के प्रति अनुत्साह रूप आत्म-भाव और उनसे आकर्षित द्रव्य पुद्गलों का आगमन।

(३) प्रमाद—आलस्य, अनुत्साह आदि को प्रमाद कहा गया है। संयम आदि धर्मक्रियाओं को करने में अनुत्साह प्रमाद है। मद (अभिमान), इन्द्रिय विषय, कषाय (क्रोधादि), विकथा (स्त्री कथा आदि) और निद्रा—ये प्रमाद के भेद हैं। प्रमाद रूप आत्मा के आचरण

को भाव आस्रव कहा गया है और उस आचरण से आकर्षित कर्म पुद्गलों को द्रव्यास्रव।

(४) कषाय आस्रव—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों तथा वेद आदि नोकषाय रूप आत्म भाव और इनसे आकर्षित कर्म पुद्गल कषाय आस्रव हैं।

(५) योग आस्रव—मन-वचन-काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति।

मिथ्यात्व से कषाय तक [आस्रव अधिकांशतः अशुभ होते हैं, इनसे पाप का बन्ध होता है; किन्तु योग आस्रव शुभ भी होता है और अशुभ भी। अशुभ योग से पाप का बन्ध होता है और शुभ योगों से पुण्य का। किन्तु यदि योगों के साथ कषायों का आवेश न हो तो शुभ योग से अत्यन्त अल्पकालीन बन्ध होता है। ऐसा बन्ध न तो प्रगाढ़ होता है और न ही विशेष फलदायी।

६. बन्धतत्व

आस्रव कर्म पुद्गलों के आकर्षित होकर आगमन को कहा गया है। वे आकर्षित कर्म पुद्गल जब आत्म-प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं, एक क्षेत्रावगाह हो जाते हैं, उसे बन्ध कहा गया है।

इसके भी द्रव्य और भाव रूप से दो भेद हैं। आत्मा के राग-द्वेष आदि रूप जो परिणाम वस्तुओं के प्रति

(ख) चारित्र मोहनीय—यह जीव को संयम में, व्रत पालन में रुचि नहीं होने देता, मोक्षमार्ग में पराक्रम नहीं करने देता। अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान; संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ—इस प्रकार इसके १६ उत्तर भेद हैं तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय; जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद—ये नौ नोकषाय कुल २५ उत्तर प्रकृतियां चारित्र मोहनीय कर्म की है।

दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियां (मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व) और चारित्र मोहनीय की २५ उत्तर प्रकृतियां—यों कुल २८ प्रकृतियों मोहनीय कर्म की है।

यह समस्त कर्मों का राजा कहलाता है; क्योंकि यही जीव को मिथ्यात्व ग्रसित करके अनन्त संसार में घुमाता है।

(iv) अन्तरायकर्म—यह जीव की वीर्य शक्ति का प्रति बन्धक कर्म है। इसके कारण जीव का दान में, लाभ में भोग में, उपभोग में उत्साह नहीं हो पाता। वह दान नहीं दे पाता, उसे लाभ नहीं हो पाता, भोग और उपभोग की सामग्री होते हुए भी भोग उपभोग में अनुत्साहित रहता है।

इसकी उत्तर प्रकृतियां पांच हैं।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्त-

राय—ये चारों कर्म घाती है। जीव के ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का घात करते हैं।

(v) आयु कर्म—यह जीव को किसी गति विशेष में रोके रखता है। इससे जीव की गति विशेष में आयु सीमा निर्धारित होती है। इसका स्वभाव वेड़ी जैसा है; जिससे चाहकर भी अवधि पूरी हुए विना जीव छूट नहीं पाता, उसे वन्घ में पड़ा रहना ही पड़ता है।

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु—इस प्रकार आयु कर्म की चार उत्तर प्रकृतियां तथा भेद हैं।

(vi) वेदनीयकर्म—यह कर्म जीव को सांसारिक सुख-दुःख की अनुभूति कराता है, तथा ऐसे निमित्त और परिस्थितियों का निर्माण करता है जिससे जीव को सुख-दुःख की प्राप्ति हो।

इसके दो भेद हैं—(१) सातावेदनीय (२) असातावेदनीय।

सातावेदनीय सुख-सामग्री मिलाता है, इससे जीव को सुख की अनुभूति होती है। सामान्य भाषा में इसे पुण्य भी कहा जा सकता है।

असातावेदनीय कर्म दुःख के निमित्त मिलाता है। रोग, शोक, दरिद्रता आदि इसी के कारण होते हैं। इसे पाप भी कहा जा सकता है।

इसका स्वभाव शहद लपेटी छुरी के समान है। जैसे शहद चाटने से उसकी मिठास के कारण व्यक्ति को सुख

की अनुभूति होती है और छुरी से जीभ कट जाने के कारण दुःख की।

(vii) नाम-कर्म—इसका स्वभाव कुम्हार जैसा है। जैसे कुम्हार विभिन्न आकृति के घड़े, बरतन आदि बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म भी अनेक प्रकार के शरीरों की रचना करता है। व्यक्ति का बौनापन, लम्बा होना, सुन्दर-सुडौल, कुरूप आदि शरीर की जितनी आकृतियाँ दिखाई देती हैं, वे सब नामकर्म द्वारा निर्मित होती हैं।

इस कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ९३ हैं।

(viii) गोत्रकर्म—इस कर्म के प्रभाव से जीव उच्च प्रतिष्ठित अथवा निम्न कुल में जन्म लेता है। उच्च का अभिप्राय यहाँ आध्यात्मिक दृष्टि से सदाचारसंपन्न कुल है अथवा जिस जाति-कुल की परम्परा सदाचारपूर्ण रही है। इसके विपरीत नीच कुल का अभिप्राय उस कुल से है जिसकी परम्परा में दुराचार का समावेश हो।

इस कर्म के दो भेद हैं—उच्च और नीच।

आयु, वेदनीय, नाम, गोत्र—ये चारों कर्म अघाती हैं। इन्हें भवोपग्राही कर्म भी कहा जाता है।

इस प्रकार प्रकृतिबंध के अन्तर्गत ज्ञानावरणीय आदि कर्म की ८ मूल प्रकृतियाँ तथा १४८ उत्तरप्रकृतियाँ मानी गई हैं।

३. स्थितिबन्ध—कौन-सा कर्म किस समय-सीमा तक

आत्मा से बँधा रहेगा, इसका निर्धारण स्थितिबंध करता है।

४. अनुभावबन्ध—इसे अनुभागबन्ध अथवा रसबन्ध भी कहा जाता है। इसका अभिप्राय फल-प्रदान शक्ति है। कौन-सा कर्म कितना तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर फलानुभूति जीव को करायेगा, इसका निर्धारण अनुभावबंध से होता है।

बंध की प्रगाढ़ता की अपेक्षा भी बंध के चार भेद बताये गये हैं—

१. बद्ध—यह साधारण बंध है। कर्म-पुद्गलों और आत्म-प्रदेशों का एक क्षेत्र अवगाह हो जाना। उदाहरणार्थ—सुइयों का एक स्थान पर एकत्र हो जाना, बीच में स्थान खाली न रहे, इस प्रकार सघनता की स्थिति।

२. स्पृष्ट—आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का चिपक जाना। जैसे सुइयों को डोरे से कसकर बांध देना।

३. बद्ध स्पृष्ट—आत्म-प्रदेश और कर्म-पुद्गलों का दूध-पानी के समान एकमेक हो जाना।

४. निकाचित—आत्म-प्रदेशों और कर्म-पुद्गलों का अत्यन्त प्रगाढ बंधन। ऐसा बंधन सरलता से नहीं छूटता। इसका फल जीव को भोगना ही पड़ता है।

इस प्रकार आस्रव और बंध तत्व के स्वरूप को समझकर इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए।

७. संवरतत्व

संवर तत्व, आस्रव तत्व का विरोधी है। आस्रव को रोकना ही संवर कहा गया है। यह आते हुए कर्मों को रोकता है। संवर द्वारा आत्मा की राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध प्रवृत्तियों को रोका जाता है, परिणामस्वरूप कर्मों का आगमन रुक जाता है।

यदि किसी तालाव को जलरहित करना है तो इसका पानी उलीचने या पम्पों द्वारा वाहर फेंकने से पहले यह आवश्यक है कि जिन नालियों द्वारा पानी आ रहा है, उन नालियों को रोका जाय। इसी प्रकार आत्मा को कर्ममुक्त करने की प्रक्रिया में संवर का महत्व है, क्योंकि इससे नवीन कर्मों के आगमन-द्वारों को निरुद्ध कर दिया जाता है।

संवर के प्रमुख भेद ५ हैं।

(१) सम्यक्त्व संवर—यह मिथ्यात्वजनित कर्मों के आगमन का निरोध करता है, उन कर्मों को नहीं आने देता। विपरीत मान्यता से मुक्त होना, सम्यक्त्व संवर है।

(२) विरतिसंवर—इन्द्रिय-भोगों तथा पाप स्थानकों का त्याग करना।

(३) कषायसंवर—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन कषायों के वेग को विफल करना, इन्हें शांत, उपशांत करना, क्षय अथवा क्षयोपशम करना।

(४) अप्रमादसंवर—संयम तथा धर्म में उत्साह प्रगट करना।

(५) अयोगसंवर—मन-वचन-काय की क्रियाओं में क्षीणता-अल्पता।

इनके अतिरिक्त संवर के २० भेद भी होते हैं। किन्तु वे सब उक्त ५ भेदों में ही गर्भित हो जाते हैं।

८. निर्जरा तत्व

निर्जरा का अभिप्राय है—आंशिक रूप से कर्मों का जीव से पृथक् हो जाना, झड़ जाना, अलग हो जाना।

जिस प्रकार जलरहित तालाब की तली में कीचड़ आदि रह जाती है, और वह कीचड़ सूर्य की धूप से धीरे-धीरे सूख जाती है तथा वायु के वेग से उड़ जाती है। उसी प्रकार तप की अग्नि से आत्मा में लगे हुए कर्म-मल झड़ जाते हैं।

इसीलिए आगमों में कहा गया है कि यश-कीर्ति, शरीर-सुख, ऋद्धि-समृद्धि आदि की प्राप्ति की इच्छा से तप नहीं करना चाहिए, अपितु आत्मशुद्धि एवं कर्म-निर्जरा के लिए तप करना चाहिए।

तपरूप में निर्जरा तत्व के १२ भेद हैं—

(१) अनशन—अशन (अन्न) पान (पेय पदार्थ) *स्वादिम (पक्वान्न, मेवा, मिष्ठान्न आदि)* स्वादिम (मुख को सुवासित करने वाले इलायची, सुपारी आदि)—इन चार प्रकार के आहारों का त्याग अनशन तप है।

उपवास, तेला (तीन दिन का उपवास) आदि इसके अनेक भेद हैं।

(२) ऊनोदरी (अवमौदर्य) तप—भूख से कम खाना, कषायों को अल्प करना, कम बोलना आदि ऊनोदरी तप है।

(३) भिक्षाचरी तप—भिक्षा द्वारा निर्दोष आहार, पानी आदि ग्रहण करना तथा उपभोग करना भिक्षाचरी तप है।

यह तप साधुओं के लिए है।

गृहस्थों के लिए वृत्तिपरिसंख्यान तप की योजना की गई है। वृत्तिपरिसंख्यान का अर्थ है—आवश्यक वस्तुओं की गिनती करना। श्रावक के लिए नित्य विचारणीय १४ नियम इसी तप की ओर संकेत करते हैं। इन नियमों से श्रावक अपनी वृत्तियों का संकोच करता है।

(४) रसपरित्याग तप—इस तप में स्वादिष्ट भोजन का त्याग किया जाता है। साथ ही दूध, दही, घी, तेल आदि का भी त्याग इसी तप के अन्तर्गत है।

(५) कायक्लेश—शरीर को कष्टसहिष्णु बनाना इस तप का फलित है। विभिन्न प्रकार के आसनों से यह उद्देश्य सम्पन्न किया जाता है। काया को अनुशासन में रखना इसका लक्ष्य है।

(६) प्रतिसंलीनता तप—इन्द्रियों और मन-वचन-काय को अशुभ योगों से हटाकर शुभ योगों में लगाना।

उपरोक्त ६ तप बाह्य तप कहलाते है। इनका भी साधना में अपना महत्व है। जिस प्रकार घी को गरम करके शुद्ध करने के लिए बरतन को तपाना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा की शुद्धि के लिए इन बाह्य तपों का आचरण भी आवश्यक है।

(७) प्रायश्चित्त—ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में लगे दोषों के लिए पश्चात्ताप करना, आत्मालोचना, तथा आत्मशुद्धि करना।

(८) विनय—देव-गुरु-धर्म की भक्ति तथा सम्मान करना।

(९) वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, रोगी आदि को मन में बिना ग्लानि लाये सेवा करना।

(१०) स्वाध्याय—आगमों, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना।

(११) ध्यान—आत्म-साक्षात्कार हेतु मन को एकाग्र करना।

(१२) व्युत्सर्ग—बाह्य उपधियों, सुविधाओं और यहाँ तक कि शरीरासक्ति का भी त्याग करना, मन-वचन-काय को निश्चल करके धर्म ध्यान, आत्म चिन्तन-मनन में लीन हो जाना।

इसका बहुप्रचलित नाम कायोत्सर्ग है।

प्रायश्चित्त से व्युत्सर्ग तक के ६ तप आभ्यन्तर तप कहलाते हैं।

इन तपों का कर्मनिर्जरा तथा आत्मशुद्धि में बहुत महत्व है। ध्यान तो मुक्ति का साक्षात

६ मोक्ष तत्व

मोक्ष तत्व का अभिप्राय है—समस्त कर्मों से मुक्ति।

मोक्ष आत्म-विकास की सर्वोच्च अवस्था और प्रत्येक आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न व्यक्ति का एक मात्र लक्ष्य है।

कर्मावरण के समूल क्षय होते ही आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त होकर निजगुणों से अलंकृत हो जाती है, सच्चिदानन्द रूप में लीन हो जाती है, अव्यावाध-शाश्वत सुख में रमण करने लगती है।

यही दशा मोक्ष है। अपने ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोकान्त में अवस्थित सिद्धशिला में जा विराजती है।

मोक्ष-प्राप्ति अथवा निरावाध, शाश्वत सुख प्राप्ति के चार उपाय हैं—सम्यक्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप। इन चारों की भलीभाँति आराधना से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है जहाँ से पुनरागमन नहीं होता।

तत्व ज्ञान का उद्देश्य

जैन दर्शन सम्मत इस तत्व ज्ञान का उद्देश्य जीव को सर्व दुःखों से बचाकर शाश्वत सुख की प्राप्ति कराना है।

ज्ञान के अभाव में न तो शुद्ध चारित्र का पालन हो सकता है और न श्रद्धा ही शुद्ध रह सकती है, अतः रत्न त्रय की शुद्ध आराधना करके मोक्ष प्राप्त करना यही तत्व ज्ञान का मूल उद्देश्य है।

●

रत्नत्रय

मानव चिन्तनप्रधान प्राणी है। वह सतत अपनी उन्नति के लिए चिन्तन-मनन करता रहता है और कार्य रूप मे भी अपने विचारो को परिणत करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

किसी भी कार्य में सफलता प्राप्ति के लिए उसका ज्ञान करना, फिर उस उपार्जित ज्ञान पर पूर्ण और अटल विश्वास करना और उसके उपरान्त ज्ञान तथा विश्वास के आधार पर क्रिया करना, यह तीनों सफलता के मूल मत्र हैं।

जैन धर्म में आध्यात्मिक सफलता तथा मोक्ष-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यही त्रिपथगा अपनाई गई है और इसे सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र कहा गया है। आध्यात्मिक विकास तथा मोक्ष प्राप्ति के अनिवार्य कारण होने से इन्हे 'रत्नत्रय' अभिधा से अलकृत किया गया है।

सम्यक्ज्ञान—तत्वो अथवा किसी भी वस्तु के भिन्न-भिन्न रूपो को विविध प्रकार से ऊहापोह तथा चिन्तन मनन द्वारा उसको भली भांति समझना ज्ञान है। साथ ही देव-गुरु-धर्म के सच्चे रूप की गवेषणा करके उसे पहचानना जानना समझना भी ज्ञान है।

सम्यक् ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि ऐसा ज्ञान पूर्वाग्रहों से मुक्त और सत्य का गवेषक होना चाहिए। साथ ही यह संशय, विभ्रम और अनध्यवसाय से रहित होना आवश्यक है।

सम्यक्दर्शन—ज्ञान (सम्यक् ज्ञान अथवा सत्यलक्ष्यी ज्ञान) से जैसा तत्वों का तथा सुदेव-सुगुरु और सुधर्म का स्वरूप जाना है, उस पर दृढ़ श्रद्धा तथा अटल विश्वास करना सम्यग्दर्शन है।

सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य सम्यग् दर्शनी जीव के बाह्य लक्षण हैं। वह उदार सेवाभावी तथा करुणावान होता है।

सम्यक्चारित्र—सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से जो ज्ञान प्राप्त किया, उस पर विश्वास किया उसे आचरण में उतारना सम्यक्चारित्र है। चारित्र का महत्व ही यह है कि वह सम्यक्ज्ञान को क्रिया रूप में—आचरण में लाता है।

सम्यग्ज्ञान और दर्शन मस्तिष्क (हृदय) तथा नेत्रों के समान हैं। इन से मोक्षोपाय जाने जा सकते हैं; लेकिन उस पथ पर चलने के लिए सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है। जैसे पंगु राह को देखता है, जानता है किन्तु पैरों में शक्ति न होने से उस राह पर चलकर अपने गंतव्य पर पहुँचने में अक्षम है। गंतव्य स्थल तक जीव को सम्यक्चारित्र ही पहुँचाता है।

व्रत

यद्यपि सम्यक्चारित्र का आयाम बहुत विस्तृत है। यह मानसिक भी होता है, वाचिक भी और कायिक भी किन्तु इसके आधारभूत नियम ५ हैं, जिन्हे व्रत कहा गया है (१) अहिंसा, (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह।

(१) अहिंसा—जैनधर्म-दर्शन तथा जैन आचार का प्राण अहिंसा है। समस्त जैन-आचार-विचार रूपी महल के लिए स्तंभ के समान हैं।

अहिंसा का अभिप्राय है किसी भी प्राणी के विषय मे मन से भी अशुभ चिन्तन न करना, ऐसे वचन भी न बोलना जिससे उसका घात हो और न ऐसी कायिक चेष्टा ही करना। यहाँ तक कि प्राणिघात के लिए दूसरे को उकसाना भी नही और समर्थन भी नही करना।

सभी जीवो पर दया करना, उनकी रक्षा के लिए तत्पर रहना, कल्याण कामना करना अहिंसा के विधेयात्मक रूप हैं।

(२) सत्य—ऐसा वचन बोलना जो सत्य हो, यथार्थ हो, किन्तु किसी के लिए पीडाकारी न हो, किसी का रहस्य उद्घाटित न होता हो, वे वचन सब के लिए कल्याणकारी, हितकारी और प्रिय हो, इसका विवेक रखकर वाणी का सयम रखना।

जैन पर्व

मनुष्य उत्सवप्रिय है। वह अपनी खुशी को अधिक से अधिक विस्तृत करना चाहता है। अन्य व्यक्तियों को भी अपनी खुशी में सम्मिलित करने की उसकी इच्छा रहती है। अपने परिवारीजनों को तो साथ लेता ही है, समाज, राष्ट्र, जाति के लोगों को भी साथ लेना चाहता है। मानव की इसी विस्तार भावना ने पर्वों को जन्म दिया।

पर्व दो प्रकार के हैं—१. लौकिक पर्व और २. लोकोत्तर पर्व। लोकोत्तर पर्वों को आध्यात्मिक पर्व भी कहा जाता है; क्योंकि इनको मनाने से आत्मिक उन्नति होती है।

जैन परम्परा अध्यात्मवादी है, अतः इसके लौकिक दिखाई देने वाले पर्व भी आध्यात्मिक भावना और प्रेरणा से अनुस्यूत हैं।

यहाँ प्रमुख जैन पर्वों का परिचय दिया जा रहा है।

१. महावीर जयन्ती

भगवान महावीर दिव्य आध्यात्मिक पुरुष हैं। उन्होंने लोकोपकारी संदेश दिया। जिस समय साधारण जनता अज्ञान के घटाटोप अन्धकार से त्रस्त थी, हिंसक

पशों का बोलबाला था, मानवता त्राहि-त्राहि कर रही थी। ऐसे विकट समय में भगवान महावीर का जन्म हुआ। उन्होंने सर्वज्ञत्व प्राप्त करके धर्म का वास्तविक रूप जनता के सामने रखा। अज्ञान-अन्धकार के बादल छँटे। लोगों को प्रकाश मिला, मानवता की पुनर्प्रतिष्ठा हुई। ऐसे दिव्य आध्यात्मिक पुरुष का जन्म-दिन पर्व के रूप में मनाना अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना है।

साथ ही भगवान महावीर जैन परम्परा के अन्तिम तीर्थंकर हैं, वर्तमान में इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित तीर्थ चल रहा है। अंतिम चरम तीर्थंकर होने के कारण वे हमारे निकट भी हैं। इसलिए जैन परम्परा में, विशेष रूप से आधुनिक काल मे हम लोगों के लिए, सम्पूर्ण मानव जाति—प्राणियों के लिए सर्वाधिक महत्व है।

भगवान महावीर का जन्म आज से लगभग २६०० वर्ष पहले (ई० पूर्व ५६६ मार्च) चैत्र शुक्ला १३ के दिन क्षत्रियकुण्ड (वैशाली विहार) में राजा सिद्धार्थ के महलों में इनकी महारानी त्रिशलादेवी की कुक्षि से हुआ। जन्म से समय ही आलोक छा गया।

आप बचपन से ही निर्भय थे, ज्ञान पुंज थे, दृढ़-निश्चयी और लोक-कल्याण की भावना हृदय मे संजोए हुए थे।

प्रति वर्ष चैत्र शुक्ला १३ के दिन महावीर जयन्ती पर्व हर्षोल्लास पूर्वक मनाकर प्रत्येक जैन (व्यक्ति) स्त्री-

पुरुप आबाल-वृद्ध भगवान महावीर जैसे ही गुणों को स्वयं अपने में धारण करने की भावना भरता है, उन जैसा ही बनने की इच्छा करता है।

यह इस पर्व का महत्व है और इसी भावना से मनाया जाना चाहिए।

२. दीपावली

यह ज्योति पर्व के रूप में विख्यात है। इसे सभी हिन्दू मनाते हैं। अपनी मान्यता के अनुसार विभिन्न महापुरुषों का सम्बन्ध इस पर्व से जोड़ते हैं; जैसे—लंका विजय के पश्चात् श्रीराम का अयोध्या में आगमन इसी दिन हुआ था; आदि-आदि।

जैन परम्परा और इतिहासविदों के अनुसार इसी दिन अर्द्ध रात्रि को भगवान महावीर का निर्वाण और इसी रात्रि के अन्तिम भाग में गौतम गणधर को केवल ज्ञान (सर्वज्ञत्व) प्राप्त हुआ था।

जैन धर्मोपासक जन भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में इस पर्व को हर्षोल्लास से मनाते हैं।

इस दिन घर की सफाई की जाती है, कूड़ा कर्कट बाहर निकल दिया जाता है, नये कपड़े पहने जाते हैं, मिठाइयाँ खाई जाती हैं तथा इष्ट मित्रों स्वजन सम्बन्धियों को भेजी भी जाती हैं, बधाई और शुभ कामना के सन्देश—happy and prosperous Deepawali for you and your family कार्डों तथा टेलीग्रामों द्वारा

भेजे जाते हैं, व्यापारी अपने वर्ष भर के लाभ-हानि का विवरण तैयार करते हैं, बाजारों और घरों में दीपक मोमबत्ती, बिजली के बल्बों की झालरों आदि से खूब प्रकाश किया जाता है, कातिकी अमावस की काली रात प्रकाश से जगमगा उठती है।

यह पर्व का लौकिक रूप है। किन्तु इसके पीछे आध्यात्मिक प्रेरणा है—जिस तरह घरों, दूकानों की सफाई की जाती है, कूड़ा कचरा बाहर निकाला जाता है, उसी तरह अपने हृदय की भी सफाई की जाय, कुत्सित भावों का कूड़ा बाहर निकाला जाय और सद्-गुणों के प्रकाश से जीवन ज्योतिर्मय बनाया जाये।

इस भावना से दीपावली पर्व मनाना सार्थक है।

३. रक्षाबन्धन

यह पर्व श्रावणी पूनम को मनाया जाता है।

इसमें भाई-बहन के निश्छल पवित्र प्रेम की झांकी मिलती है। बहन भाई के हाथ में राखी बांधती है और भाई उसकी रक्षा का भार लेता है, बहन को हर प्रकार से खुशी करने का हर समय प्रयास करता है।

राखी बंधवाना, अच्छे कपड़े पहनना आदि इसका बाह्यरूप है और निर्मल पवित्र प्रेम इसका सामाजिक राष्ट्रीय रूप है।

किन्तु इसमें एक गूढ़ प्रेरणा भी अन्तर्निहित है।

६. अक्षय तृतीया

वैशाख शुक्ला ३ के दिन मनाया जाने वाला यह पर्व अक्षय सुख, ऋद्धि, समृद्धि देने वाला है। इस दिन प्रथम वार दान धर्म की सुरसरि प्रवाहित हुई थी। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का प्रथम पारणा इक्षु रस से इसी दिन हुआ था।

इसी कारण यह अत्यन्त शुभ दिन वन गया। इस मंगल दिवस के लिए किसी भी मुहूर्त को जानने की आवश्यकता नहीं, इस दिन प्रारम्भ किया हुआ प्रत्येक शुभकार्य पूर्ण होता है।

७. पर्युषण एवं संवत्सरी

यह जैन परम्परा का अति विशिष्ट पर्व है। यह अन्य सभी पर्वों से श्रेष्ठ है और इसका महत्व भी अत्यधिक है।

इसकी विशेषता यह है कि यह पूर्ण रूप से आध्यात्मिक पर्व है। इसका एक मात्र सन्देश है आत्म-शुद्धि। कर्मों के वन्धन से आत्मा को मुक्त करने की साधना, विषय-कषायों, कलुषित भावों से दूर रहकर धर्मध्यान तप आदि की आराधना करना।

आठ दिनों तक मनाये जाने वाले इस पर्व में (१) शान्ति (२) विरति (३) उपशम (४) निवृत्ति (५) शौच (६) आर्जव (७) मार्दव (८) लाघव की साधना की जाती है।

८. संवत्सरी

यह पर्युषण का अन्तिम (आठवाँ) दिन है। इस दिन का प्रत्येक जैन के जीवन में बहुत महत्व है।

यह संवत्सरी पर्व श्रावण कृष्णा १ से पचासवें दिन मनाया जाता है।

इसका सन्देश है—भ्रातृभावना। इस दिन प्रत्येक जैन वर्षभर की भूलों, त्रुटियों, अप्रिय व्यवहारों की हृदय से क्षमा माँगता है, क्षमा लेता है और देता है। इसलिए इसका दूसरा नाम क्षमा पर्व भी है।

क्षमा जीवन की शुद्धि का अमोघ उपाय है। क्षमा से मानव को आल्हादभाव की प्राप्ति होती है।

धार्मिक जीवन की दृष्टि से इसका सबसे बड़ा महत्व है—सम्यक्त्व की रक्षा। वर्षभर की भूलों की क्षमा माग कर यदि हृदय को निर्दोष न बनाया जाय तो प्राप्त हुआ सम्यक्त्व-रत्न भी हाथ से निकल जाता है।

इसीलिए संवत्सरी के दिन क्षमा माँग कर अपने को शुद्ध कर लेना चाहिए। आत्मशुद्धि ही इस पावन पर्व का सन्देश है।

९. ओलीतप

ओली तप जैन जगत की विशिष्ट तपाराधना है। इसमें नव पद के नौ पदों की नौ दिन में आराधना की जाती है।

सांस्कृतिक स्वरूप एवं विरासत

जैन धर्म ने विश्व को कई अनुपम देनें दी हैं। इन का संक्षिप्त परिचय निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

चिन्तन के क्षेत्र में अनेकांत जैन धर्म की अद्वितीय देन है। इस का अभिप्राय है—दूसरे के दृष्टिकोण का समुचित आदर और किसी अपेक्षा से उसका स्वीकार। जैनदर्शन का स्पष्ट उद्घोष है 'सत्यं मम' जो सत्य है मैं उसे ग्रहण करता हूँ न कि 'मम सत्यं' जो मैं कहता हूँ वही सत्य है। अनेकांत की इस पक्षपात रहित दृष्टि के कारण ही जैन दर्शन ने समन्वयवाद का सुदृढ़ आधार विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।

अनाग्रह भी जैन धर्म की प्रमुख देन है। यहाँ हठाग्रह, कदाग्रह को बिल्कुल भी स्थान नहीं है। अनाग्रह की नीति विश्वशांति में उपयोगी है। इसे अपनाने से संघर्ष की संभावना समाप्त हो जाती है।

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है साथ ही विश्वशांति का अचूक उपाय भी। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी हैं। यद्यपि अन्य दर्शनों ने भी इन पर विचार किया है, किन्तु जैन दर्शन में इनका अति सूक्ष्म और तलस्पर्शी वर्णन किया गया है।

वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में जैन धर्म ने हजारों वर्ष

पूर्व पेड़-पौधों में जीवन का प्रतिपादन किया था जो आज बीसवीं शताब्दी मे वैज्ञानिक सत्य बन चुका है।

पदार्थ अथवा भौतिक विज्ञान के सन्दर्भ मे जैनदर्शन में अणु (परमाणु, स्कन्ध आदि) का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, वह भी वैज्ञानिक सत्य बन चुका है।

साहित्य के क्षेत्र में जैन दर्शन की देन अमूल्य है। तमिल कन्नड़ आदि दक्षिणी भाषाओं में जैन मनीषियों ने अद्भुत भण्डार भरा है। प्राकृत भाषा का समृद्ध साहित्य तो जैन चिन्तकों की ही देन है, संस्कृत साहित्य में भी अनेक प्रौढ़ रचनाएँ दी हैं। अपभ्रंश साहित्य में भी महत्वपूर्ण योगदान है। मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं को भी जैन साहित्यकारों ने समृद्ध बनाया है। धार्मिक साहित्य की रचना तो की ही है, किन्तु ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, सामुद्रिक शास्त्रों की रचना करके सरस्वती के भण्डार मे अनुपम रत्न दिये हैं।

आगम ग्रन्थो में शस्त्र चिकित्सा, शल्य क्रिया तथा इनमें प्रयुक्त होने वाले विभिन्न शस्त्रों (Instruments) का विशद वर्णन विपाक सूत्र मे मिलता है। उपासकदशांग मे भिन्न-भिन्न प्रकार के भांडों का वर्णन है। अन्य शास्त्रों में उस समय के राजमार्गों का उल्लेख प्राप्त होता है तथा तत्कालीन सामाजिक जीवन की झांकी भी मिलती है।

शिल्प वास्तुकला आदि के क्षेत्र में भी जैनधर्म की अनुपम देन है। पूर्व भारत (उड़ीसा) में उदयगिरि, खण्ड-गिरि, विहार में राजगिरि, सौराष्ट्र में जूनागढ़, महाराष्ट्र में तेरापुर, दक्षिण में एलोरा, श्रवणवेलगोला आबू पर्वत पर दिलवाड़ा के सांस्कृतिक स्थल आदि प्राचीन वास्तुकला की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण हैं, साथ ही अनेक ऐतिहासिक तथ्य इनसे प्रगट होते हैं। इनको प्रशंसा विदेशी कला मर्मज्ञ भी करते हैं।

यद्यपि जैन धर्म आध्यात्मिकता प्रधान मोक्षवादी धर्म है; किन्तु इसमें लौकिक पक्ष को भी उचित स्थान दिया गया है। मानव का लौकिक जीवन भी नैतिक और सुख शांतिमय बने, इस पक्ष की ओर भी यथार्थ चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। मानव के सामाजिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अभ्युदय में भी जैन धर्म सहयोगी रहा है। उसने मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष को सुन्दर, सवल और समुन्नत वनाने के प्रेरणासूत्र दिये हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, वनस्पति विज्ञान, भौतिक-विज्ञान, वास्तुकला, शिल्पकला, चिन्तन, आचार-विचार आदि सभी सांस्कृतिक, सामाजिक, सभ्यतापरक विधाओं में जैन धर्म ने विश्व के समक्ष अनेक विशिष्ट देनें दी हैं।

धार्मिक क्षेत्र में आत्मा की क्रमशः उन्नति (उत्तार-वाद) और स्वयं के पुरुषार्थ से ही मुक्ति-प्राप्ति जैनधर्म की अद्वितीय देनें हैं।

⑥